उपनिषदों की कहानियाँ

[उपनिषदों की ग्यारह पुनीत कथाएँ]

पहला भाग

रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

तृतीयावृत्ति : १९५९ ईसवी

मूल्य : ढाई रुपये मात्र

मुद्रक : हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

स्मृतिशेष स्वर्गीया माता 'सुकृति' देवी के पूज्य चरणों में,
जिन पर कभी कुछ न चढ़ा सका

"प्रथिता ब्रह्मकथा सनातनी"

साहित्य वाचस्पति डा० अमरनाथ झा, पूर्व उपकुलपति प्रयाग तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा पूर्व सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

के

दो शब्द

उपनिषदों में ज्ञान का भंडार है। उनमें सूक्ष्म विषयों की जहाँ विवेचना की गई है वहीं उदाहरण रूप में कुछ कथायें भी कही गई हैं जिनसे शिक्षा हृदयङ्गम हो। इन कथाओं की संख्या कम नहीं है। परन्तु इनका अधिक प्रचार नहीं हुआ! पुराणों से तो हम परिचित रहते हैं, रामायण और महाभारत भी हम पढ़ लेते हैं, परन्तु इस विचार से कि उपनिषद् में धर्म्म और दर्शन के ही गूढ़ तत्व होंगे, इनको पढ़ने का साहस नहीं होता है और इनमें बच्चों और नवयुवकों के उपयुक्त कोई सामग्री होगी इसका कभी ध्यान ही नहीं रहता है। श्री रामप्रताप जी त्रिपाठी ने इस पुस्तक को लिखकर हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया है। इससे विद्यार्थी बहुत लाभ उठा सकते हैं और अपने चरित्र को, अपने जीवन के आदर्शों को, अपने विचारों को संस्कृत कर सकते हैं। लेखक की शैली सरल और आकर्षक है।

२—३—४७ *अमरनाथ झा*

प्राक्कथन

उपनिषदों का दूसरा नाम 'रहस्य विद्या' बतलाया गया है, सच-मुच उपनिषदें वह रहस्य विद्या हैं, जो अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय संस्कृति की सभी विचारधाराओं को जीवन-दान करती हैं। वह इतनी रहस्य-मयी हैं कि उनका सर्वस्व जानने का अधिकारी कोई एक व्यक्ति कभी नहीं रहा। यदि कोई एक ऐसा व्यक्ति रहा भी हो तो उसका मत ही सर्वमान्य नहीं रहा। इस 'रहस्यविद्या' को जानने का अधिकार प्राप्त करने के लिए 'नचिकेता' के समान सर्वस्व-त्याग करना पड़ेगा। उपनिषदों में उस काल की अध्यात्म एवं दर्शन संबंधी सामग्रियों के भव्य चित्र ही नहीं सजाये गये हैं, प्रत्युत भारतीय जीवन-दर्शन के सभी पहलुओं का गंभीर विवेचन भी उनमें किया गया है। मानव-जीवन में ही नहीं इस निखिल विश्व में व्याप्त सत्य की जिज्ञासा एवं उसके अन्वेषण के लिये उपयोगी साधना की ऐसी उत्कट उत्कण्ठा उसमें व्यक्त है, जो विश्व के विस्तृत वाङ्मय में अन्यत्र दुर्लभ है। मानवीय प्रतिभा एवं पहुँच का इनसे बढ़कर कोई दूसरा उदाहरण इस रूप में अभी तक नहीं बन सका है। सचमुच मानव की उत्कृष्ट कल्पना का ऐसा शाश्वत एवं कल्याणकारी रूप विश्व साहित्य में अभी तक दूसरा नहीं दिखाई पड़ता। यही कारण है कि आर्य धर्म न मानने वाले भी उन पर तन-मन से निछावर हैं। सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहार ने उपनिषदों के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुये एक अवसर पर कहा है :—

"यह मुझे जीवन में शान्ति देती रही है, और मृत्यु के समय भी शान्ति देगी। सारे संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उप-निषदों के समान उपयोगी और उन्नति की ओर ले जानेवाला हो। वे

उच्चतम बुद्धि की उपज हैं। आगे या पीछे एक दिन तो ऐसा होना ही है कि यही विश्व की जनता का धर्म होगा।"

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर ने उपनिषदों के बारे में एक स्थान पर लिखा है :—'उपनिषदें वेदांत के आदि-स्रोत हैं और ये ऐसे निबन्ध हैं, जिनमें मुझे मानवीय उच्चभावना उच्चतम शिखर पर पहुँची हुई मालूम पड़ती है।' ये उद्धरण इसलिये नहीं दिये गये हैं कि इनके कारण उपनिषदों की महत्ता में कोई वृद्धि हो जायगी, प्रत्युत इससे यह दिखाया जा रहा है कि आर्य धर्म न मानने वाले विदेशियों की दृष्टि में उपनिषदों का क्या महत्व है। कहना तो यह चाहिये कि हम भारतीयों की संस्कृति और सभ्यता का परतन्त्रावस्था में भी जो सारे संसार में सम्मान था, उनका बहुत कुछ कारण ये हमारे ज्ञानभण्डार उपनिषदें भी रही हैं। उपनिषदों की एक-एक वाणी में वह अमर तेज और वह शान्तिदायी आलोक है जिसे पढ़कर, गुनकर, और आचरण कर कितनों की आँखें खुल गईं, कितने सिद्ध बन गए, कितने योगी बन गये, कितने जीवन्मुक्त हो गए और कितने ब्रह्म में विलीन हो गए। सहस्रों वर्षों से सरस्वती के ये आलोकमय प्रसाद अकिंचनता में भी कुबेर की समृद्धि अथवा भौतिक अभावों में भी आध्यात्मिक शान्ति की निधि लुटाते चले आ रहे हैं। इन्हें पाने वालों को फिर कुछ पाना नहीं रह गया। कल्पद्रुम के नीचे पहुँचकर कामनाओं का उदय हो ही कैसे सकता है?

उपनिषदें शाश्वत ज्ञान की अक्षय भण्डार हैं। सारे संसार में ऐसा कोई दर्शन नहीं है, ऐसा कोई विचार-धारा नहीं है, जो इनसे प्रभावित नहीं हुई है। प्रमाणों द्वारा यह तो सिद्ध ही हो चुका है कि मुगल साम्राज्य काल में इनका प्रसार विदेशों में भी हुआ, किन्तु यह भी पता लगता है कि एक समय ऐसा भी था जब भारत के इन ज्ञानदीपों ने सृष्टि के ओर छोर तक में अविद्या के अन्धकार को दूर किया था। भारतीय विद्या तथा संस्कृति की तो ये मूल-स्रोत ही रही हैं। ऐसा कोई

दर्शन, (चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक) ऐसा कोई शास्त्र, ऐसा कोई तर्क नहीं है, जो उपनिषदों की अमरवाणियों से निकले हुए न मालूम पड़ते हों। सारी युक्तियाँ, सारे तन्त्र, समूचे पुराण, सम्पूर्ण पदार्थ, विज्ञान की विभिन्न धाराएँ, विद्या की समस्त श्रेणियाँ, अधिक क्या मानव जाति के सुख-शान्ति के सारे उपाय, इन्हीं कामधेनुओं की कृपा से प्राप्त होते दिखाई पड़ते हैं। इस प्रपंचमय जगत् में जो भी दुःख-दैन्य, दारिद्रय, पाप-संताप हैं, उन सब को समाप्त करने के लिये उपनिषदें कल्पद्रुम के समान हैं। ऐसी कोई विद्या या ऐसी कोई कला नहीं है जो इनमें न हों। आचार-शास्त्र तथा उच्चकोटि की सभ्यता से लेकर परम आध्यात्मिक शान्ति एवं पारलौकिक निःश्रेयस के लिए ये सदा खुली हुई हैं। इनमें वर्णित विद्याएँ कल्पना की ऊँची और मीठी उड़ान मात्र नहीं हैं, एक सभ्य एवं समुन्नत जाति की सहस्रों वर्षों की गहरी अनुभूतियों का उनमें रस घुला हुआ है और वे पारमार्थिक दृष्टि से क्रियात्मक हैं। उपनिषदों में दी गई शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप में लाकर कोई भी व्यक्ति, कोई भी समाज अवनति के गर्त में कभी नहीं गिर सकता, प्रत्युत दुःख-दैन्य से छुटकारा पा सकता है। विद्वेष और घृणा की आग से उसे कोई भय नहीं हो सकता और न भौतिक अभावों के कारण उसे दर-दर भटकना ही पड़ेगा। काम क्रोधादि विकारों को दूर करने की इनमें अमोघ शक्ति है,आत्म ज्योति को पहचानने के लिए इनसे बढ़कर कोई दूसरा साधन नहीं है। इनमें वह दिव्य तेज है, जिससे कोई भी देश, कोई भी जाति, कोई भी समाज सदा उद्भासित रह सकता है और गिरी अवस्था में भी पुनः उत्थान को प्राप्त कर सकता है। सामान्य पशु से मनुष्य बनाने की शक्ति का तो कुछ कहना ही नहीं है, इनमें मानव-पुत्र को अमृतपुत्र बनाने या अमरत्व प्राप्त करने के सारे रहस्य भरे पड़े हैं। इनमें बताए गए संयमों के द्वारा मानव बड़ी सरलता और सुगमता से अमर बन सकता है। ऐहिक सिद्धियों के द्वार तो इनमें खुले ही हैं, पारलौकिक समृद्धियों के

लिए भी इनमें सभी साधन विद्यमान हैं। गीता का निष्काम कर्मयोग, महाभारत और रामायण की लोक संग्रह-भावना उपनिषदों में वर्णित तथ्यों पर आधारित हैं। यह न समझना चाहिए कि वे पारलौकिक सिद्धियों की देनेवाली हैं, प्रत्युत उनमें ऐहिक जीवन की विविध समस्याओं को हल करने की प्रेरणा है। किन्तु 'मीठा-मीठा' चिल्लाने से जिस प्रकार मुँह मीठा नहीं हो सकता, उसी प्रकार केवल उपनिषदों के वाक्यों के बार-बार उच्चारण से भी वास्तविक सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। केवल पुस्तकों के रट लेने से या किसी का उपदेश सुनने मात्र से आत्मज्ञान नहीं प्राप्त होता। इसी सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिंगात्।
एतैरुपायै र्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्म धाम॥

अर्थात् यह आत्मा वेदादि के अध्ययन से नहीं मिलता, न बुद्धि की सूक्ष्मता से या बहुत से शास्त्रों से सुनने या अनेक विषयों की जानकारी से ही वह मिलता है। जो पुरुष इस संसार में केवल इसी आत्मा का वरण करता है, उसी को इसकी प्राप्ति होती है। आत्मा उसी भाग्यशाली को अपना स्वरूप दिखाता है। बलहीन अर्थात् ब्रह्मचर्य विहीन, प्रमादी, और अशास्त्रीय तप में निरत को भी यह आत्मा नहीं मिलता। किन्तु जब ज्ञानी पुरुष इन उपायों से अर्थात् ब्रह्मचर्य पूर्वक सावधान मन एवं शास्त्रीय विधि-विधानों के साथ उसे पाने का यत्न करता है तब उसका आत्मा ब्रह्मपद की प्राप्ति कर लेता है। इसको पाने के लिए मनुष्य को "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" अर्थात् पहले इनके वचनों को सुनो, उसके बाद उन पर पूरा मनन करो फिर एकान्त में शान्त मन से उन पर विचार करो इसके अनन्तर चित्त वृत्तियों को समेट कर—अंतर्मुखी

बन कर, मन में एकाग्रचित्त हो ध्यान धरो, तभी तुम्हें वह महाज्योति, अखण्ड आनन्द और शाश्वत शान्ति का सरोवर नहाने को मिलेगा। उसे प्राप्त कर लेने पर तुम्हारे हृदय की सब गाँठें अपने आप खुल जायँगी, सारे संशय दूर हो जायँगे, सभी शुभाशुभ कर्मों का बन्धन नष्ट हो जायगा और तुम जीवन्मुक्त बन जाओगे।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो उपनिषदों का एक-एक अक्षर एक-एक बहुमूल्य रत्न है। ये हिन्दू जाति के लिए ही गर्व की वस्तु नहीं हैं, प्रत्युत मानव जाति मात्र के लिए गौरव की वस्तु हैं। मानवता की सीमा लाँघकर ऊपर उठने की इनमें ऐसी-ऐसी युक्तियाँ दी गई हैं, जो कभी व्यर्थ होनेवाली नहीं हैं। इस 'परमाणु' एवं 'उद्रजन' युग में भी इनकी ज्योति मलिन नहीं हुई है। समस्त मानवता को उबारने की इनमें अद्भुत एवं प्रचण्ड शक्ति है। विज्ञान ने अपने चरम विकास में भी समूची प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में अभी अपनी हार ही स्वीकार की है, किन्तु उपनिषदों के वर्णित तत्त्वों में समूची प्रकृति मुट्ठी में हस्तगत होती दिखाई गई है। यह कोरी भावुकता नहीं है, इसमें वस्तुस्थिति को प्राप्त करने के लिए अपने संकुचित वृत्त से ऊपर उठकर सोचना पड़ेगा। आज तक मृत्यु से पराजित विज्ञान को दर-दर ठोकरें खाने के बाद यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि इसे वश्य करने की कोई भी शक्ति उसके पास नहीं है, किन्तु उपनिषदों ने अमरत्व-प्राप्ति की युक्तियाँ स्थल-स्थल पर बताई गई हैं। ये उक्तियाँ कल्पना-प्रसूत नहीं हैं, सहस्रों वर्षों की गहरी अनुभूतियों तथा क्रियाओं का इनमें पुट है। आज के युग में भी उपनिषदों के प्रभाव से स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस आदि ने अपने जीवन में अमरत्व के क्षणों का जो अनुभव किया है, उसका पता सारे संसार को है।

उपनिषदों के रहस्यात्मक विचारों की परम्परा से न केवल हिन्दू जति के जीवन-दर्शन ही प्रभावित हैं, प्रत्युत बौद्ध तथा जैन दर्शनों पर भी उनकी अमिट छाप है। सूफियों की रहस्य भावना, मुसलमानों का

एकेश्वरवाद, क्रिश्चियनों की रहस्यवादिता, शोपेनहार के दार्शनिक विचार, राजा राममोहन राय के ब्राह्म समाज की मूल भावना, स्वामी दयानन्द, कवीन्द्र रवीन्द्र और योगीन्द्र अरविन्द की विचारधाराएँ उपनिषदों से अत्यधिक प्रभावित हैं। शंकराचार्य, रामानुज, वल्लभ, माध्व आदि आचार्यों ने तो इन्हीं की पृष्ठभूमि पर अपने सिद्धान्तों की अवतारणा की है। यह सही है कि उपनिषदों की विचारधारा में जीवन के संध्या काल—संन्यास आश्रम—के अनुभवों के अमूल्य पवित्र विचार संगृहीत हुए हैं और ये आर्य जीवन के संन्यास आश्रम की स्थिति के प्रतीक हैं, किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि इनमें लोकजीवन या लोकसंग्रह की भावनाओं का जान बूझकर निरादर किया गया है। कहना तो यह चाहिए कि प्रथम के तीनों आश्रमों का सारतत्व भी इनमें आ गया है। इनके विचार इतने गूढ़, उदात्त और व्यापक हैं कि इनसे सब स्थिति के लोग, समान लाभ उठा सकते हैं। यही कारण है कि क्या स्वधर्मी क्या विधर्मी, क्या पौर्वात्य और क्या पाश्चात्य—सभी विचारकों के लिए ये प्रेरणा और स्मृति के स्रोत हैं। व्यापक मानव धर्म और उनके जीवन-दर्शन के क्षेत्र में ये किसी भौगोलिक रेखा से आबद्ध नहीं हैं और न काल की सीमा रेखा ही इनकी प्रसिद्धि और सनातनता में कोई बट्टा लगा सकी है। ज्ञान और अनुभूतियों का, मस्तिष्क और हृदय का इनमें ऐसा मधुर समन्वय है कि कहीं विषमता का कोई पता भी नहीं चलता।

यद्यपि विषय की व्यापकता के कारण सभी दर्शन एवं सम्प्रदाय अपने मतों की पुष्टि के लिए उपनिषदों का आश्रय लेते हैं, किन्तु उत्तर मीमांसा वेदान्त दर्शन—की ही विशेष विवेचना इनमें की गई है। यही कारण है कि आचार्य शङ्कर ने अपने मत के प्रतिपादन में स्थल स्थल पर इनका उपयोग किया है। ब्रह्म की व्यापकता, आत्मा की नित्यता, लौकिक सुख की क्षणभंगुरता, मुक्ति की उपलब्धि आदि विषयों का इनमें प्रमुख रूप से प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि ये

वास्तव में ज्ञान काण्ड के समर्थक हैं, किन्तु उपासना और कर्मकाण्ड का भी इनमें बहिष्कार या निरादर नहीं किया गया है। आज के विज्ञान युग ने उपासना और कर्मकाण्ड को मानव-स्वभाव से कुछ दूर कर दिया है किन्तु ज्ञान का क्षेत्र आज भी पूर्ववत् अबाधित है, इसमें काल क्रम से परिवर्तन की कोई गुञ्जाइश नहीं है। फलस्वरूप उपनिषदों में परमात्मा, आत्मा, सृष्टि, पुनर्जन्म, स्वर्ग, धर्म, आचार आदि का जो विवरण अथवा परिचय दिया गया है वह आज भी ज्यों का त्यों है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक विद्वानों के तर्कों और नास्तिकों की शङ्काओं को वहाँ फटकने की भी स्थिति नहीं मिलती, यही कारण है कि सनातन हिन्दू-जाति की रीढ़ विधर्मियों के घोर अनाचारों में भी नहीं टूटी, पराये शासन की क्रूर शृङ्खलाओं में शताब्दियों तक जकड़े रहने पर भी उसमें जड़ता नहीं आयी, लाखों आँधी तूफानों एवं बवंडरों के बीच में पड़ने पर भी उसका तेज और पराक्रम मन्द नहीं हुआ।

व्यापक लोकप्रियता के कारण उपनिषदों की संख्या बढ़ते-बढ़ते दो सौ से भी अधिक बन गई है किन्तु उनमें मुख्य १८ ही हैं जिनकी गणना स्वामी शंकराचार्य ने अपने भाषा में की है। ऐसा मालूम पड़ता है कि ये शेष सारी उपनिषदें शङ्कराचार्य के बाद बनी होंगी। जहाँ तक गम्भीरता और विचारों की उच्चता एवं उदात्तता का प्रश्न है, इन परवर्ती उपनिषदों से उपर्युक्त १८ उपनिषदों की तुलना नहीं की जा सकती, पर इनमें भी ऐहिक और परलौकिक सिद्धियों की विवेचना एवं गवेषणा की गई है। अठारहों उपनिषदों में ईश, केन, कठ, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य तैत्तिरीय, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर, ऐतरेय आदि के नाम प्रमुख हैं। इनमें से बारह उपनिषदों पर भगवान शङ्कराचार्य ने अपना सुविस्तृत भाष्य लिखा है।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में चारों वेदों की शाखाओं की संख्या कुल मिलाकर ११३० बतलाई है। प्राचीन साहित्यकारों का आग्रह है कि वेदों की जितनी शाखाएँ थीं, उतनी ही संहिताएं,

उतने ही ब्राह्मण और आरण्यक थे और उतने ही कल्पसूत्र और उपनिषदें थीं, किन्तु आज इन सब का कोई भी पता ठिकाना नहीं है। अडयार (मद्रास) की थियासोफिकल सोसाइटी ने, जो लगभग २०० उपनिषदें प्रकाशित की हैं, उनमें बहुतेरी परवर्ती काल की रचनाएँ हैं। उपर्युक्त उपनिषदों जैसी गम्भीरता, व्यापकता तथा उदात्तता उनमें नहीं है। उनमें से अधिकांश शैव, शाक्त एवं वैष्णव सम्प्रदायों की पृष्ठभूमि मात्र बन गई हैं। उपनिषदों का यह क्रमिक विकास स्पष्ट संकेत करता है कि किस प्रकार आरम्भ में हमारे धर्म और विचार धारा में संकुचित भावना अथवा साम्प्रदायिकता को कोई स्थान नहीं था। निखिल विश्व और ब्रह्म जैसे व्यापक प्रश्नों पर ही विचार किया जाता था, परन्तु बाद में बढ़ते-बढ़ते यह धारा शैव, वैष्णव और शाक्त समुदायों की परिधि में आकर फँस गयी। और जिसके परिणाम स्वरूप हम विशृंखल बन गए, हमारी ज्ञान गरिमा घट गयी, हम ऊपर से नीचे उतरने लगे और आज पहुँचते-पहुँचते ऐसी जगह आकर रुक गए हैं कि हमें यह सहसा विश्वास ही नहीं होता कि ज्ञान की ये उज्ज्वल मणियाँ हमारे ही पूर्वजों के मस्तिष्क से आविर्भूत हुई हैं? शान्ति की यह मन्दाकिनी हमारे ही पूर्वजों के विशाल हृदय से प्रवाहित हुई है।

प्रगतिवादी अथवा विकासवादी चिल्लाते हैं कि जो कुछ पुराना हो गया है, वह सड़ गया है, उन्हें छोड़कर आगे चलो। पीछे की ओर मुखकर हम उन्नति के शिखर पर नहीं चढ़ सकेंगे आदि आदि। किन्तु उन्हें यह सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि क्या करोड़ों वर्ष का यह, सौर मण्डल, यह धरातल, यह हिमवान् और यह गंगा यमुना की निर्मल धारा पुरानी हो गई है, इन्हें छोड़ देना ही ठीक है, इनसे पूर्ववत् लाभ होने की संभावना अब नहीं रह गई है, वे सब के सब नष्ट कर देने ही लायक हैं। ठीक! यदि कोई प्रगतिवादी यह कहने की हिम्मत कर सकता है कि—हाँ ये सब उपेक्षणीय हो गए हैं तो फिर उसके लिए मानव-संस्कृति की ये मूल-स्रोत उपनिषदें भी कूड़ा-करकट-सी हो सकती

हैं। परन्तु अभी ज्ञान-उन्माद का ऐसा कठोर युग नहीं शुरू हुआ है, विज्ञान उद्रजन बम तक पहुँचकर भी बहुत नीचे है, उपनिषदें अभी बहुत ऊँची हैं, उनमें वर्णित जीवन के तत्त्वों की प्राप्ति अभी विज्ञान से संभव नहीं है। ट्यूब वेल लगा कर हम दस बीस-बीघा खेती की सींचाई भले ही कर लें, पर हरद्वार का कुम्भ अथवा तीर्थराज प्रयाग का संगम उस कूप के तट पर नहीं लगेगा। भीतर घुसकर देखिए इनके रत्नों की कुछ अमल अमन्द छवि जो तन मन के सन्तापों को दूर भगाने में आज भी यथापूर्व है। केवल हमारी आँखें बदल गई हैं, इन पर अज्ञान, प्रमाद और अभिमान का चश्मा चढ़ा हुआ है, उसे उतारकर हम तनिक निहारें तो सही :—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

अज्ञान और अविद्या में भ्रमते हुए भी अपने को धीर और पण्डित मानने वाले मूर्ख लोग नाना कष्टों एवं योनियों में उसी प्रकार भटकते और ठोकरें खाते फिरते हैं जैसे एक अन्धे के पीछे चलने वाले दूसरे अन्धे।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

सत्य की ही इस संसार में विजय होती है, असत्य की विजय कदापि नहीं होती। सत्य धर्म से ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति का वह विस्तृत मार्ग—देवयान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा अपनी कामनाओं को प्राप्त करने वाले महर्षिगण उस परम धाम में गमन करते हैं, जहाँ वह सत्य का परम आश्रय परमात्मा निवास करता है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

यह आत्मा सर्वदा सत्य से, तपस्या से, यथार्थ ज्ञान से और ब्रह्मचर्य से पाया जाता है। निष्पाप और यत्न में निरत रहने वाले

लोग इस निष्कलंक और प्रकाश स्वरूप आत्मा को अपने अन्तःकरण में ही देखते हैं।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम् स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृ कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृ देवो भवो। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्मांणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।

हमारे पूर्व आचार्यों की यह शिक्षा अकेले ही भारतीय संस्कृति के सभी अंगों पर प्रकाश डालने में पर्याप्त है। भारत के पास कुछ रहे या न रहे यदि उसके निवासी अपने पूर्वजों की इस अमरवाणी का ही केवल अनुसरण करते रहेंगे तो उन्हें कल्पान्त तक अकिंचन, दुःख और अशान्त होने का कोई कारण नहीं होगा।

इस प्रकार विश्व के विस्तृत वाङ्मय में उपनिषदों की महता बेजोड़ है। वे केवल अपनी परम प्राचीनता के कारण ही आदरणीय हैं प्रत्युत उनकी सहज सुख-शान्तिदायिनी सूक्तियाँ अमरत्व का सन्देश देनेवाली हैं। भारतीय आर्य-संस्कृति का समुन्नत एवं सुखद रूप तो सदा से इन्हीं अमृत-वापिकाओं में निमज्जित होकर निखरा है। ये किसी सम्प्रदाय विशेष की वस्तु नहीं है, इनकी सामान्य दृष्टि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के महान् एवं पुनीत लक्ष्य पर स्थिर है। यही कारण है कि देश-विदेश सर्वत्र इनका समान आदर है। पर यह सब होते हुए भी उपनिषदें सर्व साधारण के लाभ में नहीं आतीं। इनकी गहन-गम्भीरता की दुहाई देकर जब हमारे कितने संस्कृतज्ञ पण्डित जन भी इनके अमर सन्देश से आजीवन वञ्चित रह जाते हैं, तब केवल हिन्दी जानने वालों का क्या दोष ? अज तक अनेक उपनिषदों के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं; पर विषयों की दुरूहता

अथवा अध्यात्म विषय की प्रधानता के इन कारण अनुवादों में भी हिन्दी जानने वालों की प्रवृत्ति कम हुई है। हमारा यह प्रयास दिशा इसी की ओर है।

यह कहानियों का युग है। भूतों-प्रेतों और कुत्तों-सियारों की कहानियों से लेकर आर्थिक एवं वैज्ञानिक कहानियों तक का प्रकाशन धड़ल्ले से हो रहा है। कितनी श्लील, भ्रष्ट और कुरुचि उत्पन्न करने वाली समाज-विघातक कहानियों की पत्रिकाएँ भी प्रतिमास हजारों की संख्या में प्रकाशित होकर आर्य सभ्यता का गला घोंटने के लिए चारों ओर फैली हुई हैं। निश्चय ही उन विषैली कहानियों से हमारी सांस्कृतिक चेतना का दम घुट रहा है। ऐसी विषम परिस्थिति में इन उपनिषदों को पुनीत कहानियों का ग्रन्थन केवल इसी विचार से किया गया है कि कहानियों की प्रेमी हिन्दी-जनता में उपनिषदों के अमर पात्रों के साथ-साथ उनके परम शान्तिदायक अमर सन्देशों की गूँज भी थोड़ी बहुत पहुँच सके और इसी बहाने से उपनिषदों में क्या गूढ़ तत्व भरा हुआ है इसे वे भी जान सकें। बस, इससे अधिक इनकी उपयोगिता के बारे में मुझे कुछ कहना नहीं है।

इन कहानियों के पात्र प्रायः सभी उपनिषदों के हैं। घटनाएं और संवाद भी प्रायः अधिक उन्हीं के हैं। केवल रोचकता और प्रवाह लाने के लिए सब में कुछ न कुछ कल्पना का आश्रय लिया गया है। समय की गति पहचान कर ही मैंने यह धृष्टता की है। आशा है, हमारे गुरुजन इसे क्षमा करेंगे और हमारे केवल कहानी प्रेमी पाठक भी इसे पसन्द करेंगे। क्योंकि ये कहानियाँ अनुवाद नहीं हैं, इनमें उपनिषदों के पात्रों, घटनाओं और संवादों के उपयोगी अंशों को नवीन कहानी शैली के ढाँचे में ढाला गया है। मैं मानता हूँ कि नितान्त मनोवैज्ञानिक एवं विशुद्ध प्रगतिशील कहानियों के इस युग में इन कहानियों के पाठक कम निकलेंगे पर अभी हमारी संस्कृति एवं सभ्यता पर स्नेह और आदर रखने वालों की इतनी कमी नहीं हुई है। और

उन्हीं के योग्य हाथों में सौंपने के लिए ही मेरी यह तुच्छ भेंट है। पश्चिम की होड़ में पूर्व का सब कुछ हेय नहीं है। उपनिषदें हमारी गौरवशालिनी संस्कृति एवं अतीत सभ्यता की उज्वल प्रतीक हैं। उनमें हमारे जीवन का ऐसा सर्वोत्तम पहलू छिपा हुआ है, जिसकी खोज में सारा संसार अब भी दौड़ रहा है।

इस पहले भाग में कुल ग्यारह कहानियाँ संगृहीत हैं। इनकी भाषा में कुछ मित्रों के आग्रह से सरलता लाने की मैंने 'चेष्टा' की है, पर मैं स्वयं नहीं जानता कि मुझे इस 'चेष्टा' में कितनी सफलता मिली है। पर ज्यों-ज्यों कहानियाँ आगे बढ़ती हैं, विषय के साथ-साथ उनकी भाषा भी कुछ पुष्ट होती जाती है। दूसरे भाग की कहानियों में भाषा का स्वरूप कुछ और निखरा हुआ है, क्योंकि वे कहानियाँ केवल कहानियाँ ही नहीं हैं वरन् उन उपनिषदों के प्रतिपाद्य तत्वों की वाहिका भी हैं। पर इन ग्यारह कहानियों में उनकी अपेक्षा कह-नापे का ध्यान अधिक रखा गया है।

६—१०—५०

रामप्रताप त्रिपाठी

कहानियों का क्रम

देवताओं की शक्ति-परीक्षा

[१]

देवताओं और असुरों में बहुधा पटती नहीं थी। आये दिन थोड़ी-थोड़ी बातों में उनके बीच लड़ाई झगड़ा हुआ करता था। एक बार यह अनबन बहुत बढ़ गई और दोनों ओर से जमकर लड़ाई की तैयारी हुई। देवताओं के राजा इन्द्र ने अग्नि, वायु आदि बलवान देवताओं की सहायता से डटकर असुरों का सामना किया। संयोग की बात। असुर सब के सब मारे गये। जो थोड़े-बहुत बचे भी वह देश छोड़कर भाग गये। इस लड़ाई से देवताओं की धाक जम गयी, चारों ओर उनकी वीरता की प्रशंसा होने लगी। यों तो सभी देवताओं ने प्राण होम कर इस लड़ाई में वीरता दिखाई थी परन्तु अग्नि और वायु का तो इसमें बहुत बड़ा हाथ था। जो काम करता है वह नाम भी चाहता है। नाम का ही ऐसा लोभ होता है कि लोग प्राणों की कोई चिन्ता न करके बड़े से बड़ा काम कर डालते हैं। देवाओं को भी यश खूब मिला। सारे जगत् में उनकी बड़ी प्रशंसा होने लगी और ईश्वर को छोड़कर सब लोग देवताओं की ही पूजा करने लगे। इस मान-प्रतिष्ठा को पाकर देवताओं को बड़ा घमण्ड हो आया। वह सोचने लगे कि अब संसार में हम लोगों से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। ईश्वर की पूजा में पहले वह बहुत मन लगाते थे पर जब यह देखा कि सारी दुनिया हमारी पूजा करती है तो हमें किसी की पूजा करने से क्या लाभ है ? इस विजय-गर्व में उन्मत्त होकर वह इतने पथ भ्रष्ट हो गये कि स्वयं अपने ही मुँह से अपनी-अपनी प्रशंसा करने लगे। पहले जहाँ वह सृष्टि के कण-कण में परमात्मा का दर्शन पाते थे वहाँ अभिमान के कारण दिखाऊ पूजा-

पाठ करने पर भी उन्हें हृदय में परम ज्योति का दर्शन दुर्लभ बन गया। ईश्वर की सर्वशक्तिमान सत्ता का विश्वास उनके हृदय से एकदम हट गया। वह स्वयं एकदम से असुर बन बैठे।

× × ×

भगवान को अपने भक्तों की सदा सुध बनी रही रहती है। जैसे पिता अपने प्यारे पुत्र का अकल्याण कभी नहीं देख सकता उसी तरह भगवान के मन में भी देवताओं की इस गर्व-भावना से बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा कि ये सचमुच बेहोश हो गये हैं। अभिमान के नशे में ये कुछ भी नहीं बूझ रहे हैं कि वास्तव में हमारा क्या हो रहा है? अगर इन्हें समय रहते ही सचेत नहीं किया जाता तो इतने दिनों तक हमारी सेवा करने का इन्हें क्या फल मिलेगा? यदि मैं इस समय इनकी इस करतूत को सह लेता हूँ तो इसका फल यही होगा कि यह सब भी असुरों की तरह नष्ट हो जायँगे। और फिर सारी दुनिया नरक बन जायगी। विजय प्राप्त करके इतना घमण्ड इनमें जो आ गया है सो निश्चय ही सबका विनाश करके छोड़ेगा। जो बड़े होते हैं वे इस तरह विजय पाकर पागल नहीं बन जाते बल्कि उनमें और भी नम्रता आ जाती है। फल लगने पर पेड़ की डालें और भी नीचे की ओर झुक जाती हैं। इस तरह का विचार करके भगवान ने देवताओं का घमण्ड दूर करने का एक अच्छा उपाय निकाला।

सवेरे का सुहावना समय था। अमरावती पुरी के नन्दनवन में इन्द्र का दरबार लगा था। सब देवता मारे घमण्ड के अपनी-अपनी डींगे हाँकते हुए एक दूसरे से झगड़ रहे थे कि बीच आसमान से एक परम तेजस्वी यक्ष पुरुष नीचे धरती की ओर उतरता हुआ दिखाई पड़ा। उस समय दसों दिशाओं में चकाचौंध मच गयी। देवताओं की चमकदार आँखें मुँदने-सी लगीं। यहाँ तक कि अग्नि भी, जो अपने तेज को बहुत सजा-बजा कर बैठे हुए थे, उस परम

तेज-से मलिन बन गये। देवताओं की हँसी एकाएक बन्द हो गयी। सबकी अधखुली आँखें सामने दिखाई पड़ने वाले उस परम तेजस्वी यक्ष पुरुष की ओर लग गयी। उसके परम तेज से सबका चेहरा फीका पड़ने लगा। थोड़ी देर तक सभी चुप बने रहे और इस तरह देखते ही देखते देवराज इन्द्र की सारी सभा में एकदम सन्नाटा छा गया।

आखिरकार सब देवताओं ने उस परम तेजस्वी यक्ष पुरुष के भेद को जानने के लिए अग्नि से बड़ी विनती की, क्योंकि वही सबसे अधिक तेजस्वी थे भी। पिछले महायुद्ध में उनकी वीरता की धाक सब देवताओं पर जम चुकी थी। थोड़ी देर तक अग्नि इधर-उधर की टाल-मटूल करते रहे, लेकिन जब देवराज इन्द्र ने उन्हें बड़ी खरी बातें सुनाईं तो मजबूर होकर उन्हें वहाँ से पता लगाने के लिए उठना ही पड़ा। निरुपाय अग्नि मारे शर्म के उस तेजस्वी यक्ष पुरुष की ओर धीरे-धीरे कदम बढ़ाने लगे किन्तु थोड़ी दूर तक भी नहीं पहुँच सके थे कि उनका बुरा हाल होने लगा। आँखें एकदम बन्द-सी हो गयी। सिवा प्रकाश की जुन्हाइयों के उनकी आँखों से वह यक्ष पुरुष की आकृति भी धीरे-धीरे गुम होने लगी। तेज की भयनाक गरमी से उनका शरीर जलने लगा। पर क्या करते, बाध्य होकर समीप तक तो जाना ही था। किसी तरह अग्नि उस यक्ष पुरुष से थोड़ी दूर पर पहुँच तो गए, परन्तु वहाँ जाकर भी उनकी बोलने की हिम्मत नहीं हुई। थोड़ी देर तक आँखें बन्द कर वह असह्य ताप सहन करते हुए किसी तरह केवल खड़े रहे।

भगवान् को दया आयी। अपनी मन्द मुसकराहट से आकाश और दिशाओं को उद्भासित करते हुए वह बोले—'भाई! तुम कौन हो? इस तरह यहाँ खड़ा होने का तुम्हारा उद्देश्य क्या है?' अग्नि का तेज अभी इतना गला तो था नहीं। स्वर को बनावटी ढंग से गम्भीर बनाते हुए उन्होंने कहा—'मेरा नाम अग्नि है। कोई-कोई मुझे जात-वेदा भी कहते हैं। मैं जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं?' भगवान्

ने देखा कि अग्नि का स्वर कितना बनावटी है और इसमें घमण्ड की बू तनिक भी कम नहीं हुई है। भीतर की बातें बाहर लाने के लिए उन्होंने पूछा—'भाई अग्नि! क्या मुझे यह बतला सकते हो कि तुम्हारा काम क्या है?' अग्नि को उस तेजस्वी पुरुष की इन विनयपूर्ण बातों से और भी बढ़ावा मिला। आँखों को खोलने की चेष्टा करते हुए उन्होंने कहा—'तेजस्वी पुरुष! क्या आपको अग्नि का पराक्रम मालूम नहीं है? मैं सारे संसार को पल भर में जला देने की शक्ति रखता हूँ। धरती की बात ही क्या आसमान में जितने तारे हैं वह भी हमारे तेज से पल भर भी नहीं ठहर सकते।'

भगवान ने देखा कि अग्नि का दिमाग अभी ठीक नहीं हुआ है। धरातल से एक तिनका उठाकर उन्होंने अग्नि की ओर फेंकते हुए कहा—'अग्नि देव! मैं सचमुच नहीं जानता कि तुम किस तरह किसी वस्तु को जला सकते हो। इसलिए तुम इस तिनके को जला कर मुझे तनिक अपना पराक्रम तो दिखलाओ।' अग्नि से इतनी बातें कह भगवान् ने अग्नि के शरीर से अपना तेजस्वी रूप भीतर ही भीतर अपने में खींच लिया, जिससे देखते ही देखते अग्नि का तेजस्वी शरीर निस्तेज होकर धूमिल पड़ गया। अपने पूरे पराक्रम को याद करके वह उस तिनके को जलाने के लिए तैयार तो हो गये किन्तु भीतर से उनकी हिम्मत टूट चुकी थी। वह तिनका, जो अग्नि की एक गरम उसांस से राख बन सकता था, अभी उसी तरह अग्नि के सामने मानो उनका मजाक-सा करता हुआ पड़ा था। अग्नि की सारी मानसिक चेष्टा निष्फल हो गयी, परन्तु तिनके का एक छोर भी नहीं मुरमुराया। देर होती गयी; पर तिनका ज्यों का त्यों बना ही रह गया। उधर उस तेजस्वी यक्ष पुरुष का तेज अधिक भयानक हो गया, और निस्तत्त्व अग्नि का शरीर झुलसने लगा। फिर तो वह चुपचाप पीछे खिसक कर किसी तरह देवताओं के समीप वापस आ गये। उनकी आँखें नीचे

की ओर धँस गई थीं और चेहरे का पहले वाला तेज जाने कहाँ गायब हो चुका था।

इन्द्र समेत देवताओं ने देखा, अग्नि एकदम मृतक के समान निर्जीव होकर उनके बीच में खड़े हैं। न बुलाने पर बोलते हैं और न कुछ खुद ही कहना चाहते हैं। उनकी सारी तेजस्विता नष्ट हो चुकी है, आँखें नीचे धँस गई हैं और तेजस्वी मुखमण्डल पोपला और पीला पड़ गया है। देवराज ने अग्नि को अधिक परेशान करना ठीक नहीं समझा। सान्तवना भरी वाणी में स्नेह प्रकट करते हुए कहा—'भाई अग्नि! कुछ बताओ तो सही,इसमें शर्म की क्या बात है?" थोड़ी देर बाद बहुत सकुचाते हुए अग्नि को शिर नीचा करके बोलना ही पड़ा—'देवराज! बहुत कोशिश करके भी मैं उस तेजस्वी पुरुष का कुछ पता लगा नहीं सका। वह असुरों से भी भयानक है। मेरी सामर्थ्य नहीं है कि उसका पता लगा सकूँ।' देवसभा में अग्नि की इन निराशा भरी बातों से गहरा आतंक छा गया। सब चुप हो गये।

थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद इन्द्र ने वायु की ओर ताका। उस समय उनका भी बुरा हाल हो रहा था, क्योंकि कुछ देर पहले अग्नि के बाद अपनी वीरता की लंबी डींगे हाँकने में वह भी सबसे आगे थे। इन्द्र की आँखों को अपनी ओर लगी देखकर वह दूसरी ओर ताकने लगे। पर राजा को इससे क्या? उसे तो काम लेना आता ही है। सभा की चुप्पी तोड़ते हुए देवराज ने पुकारा—'वायु! मैं समझता हूँ कि तुम्हें उस तेजस्वी यक्ष पुरुष का पता लगाने में कोई कठिनाई नहीं होगी। तुम इस चराचर संसार के सभी जीवों में सबसे बढ़कर बलवान् हो। तुम्हारे बिना कोई एक पल भी नहीं जी सकता। जाओ, देखो तो वह कौन है?' देवराज अपने साथियों की इतनी तारीफ कभी करते नहीं थे। वायु का गिरा मन हरा हो उठा। वह जाने को तैयार होकर आगे बढ़े। पर थोड़ी ही दूर जाने के बाद उस तेजस्वी पुरुष के तेजःपुञ्ज की ओर ताकना भी वायु के लिए बड़ा

कठिन हो गया। किसी तरह कुछ दूर समीप चलकर वह भी खड़े हो गये पर पूछने की हिम्मत उनमें भी शेष नहीं रह गयी।

दीन दशा में वायु को थोड़ी देर तक खड़ा रहने के बाद उस तेजस्वी पुरुष ने पूछा—'भाई! तुम कौन हो? यहाँ आने का तुम्हारा उद्देश्य क्या है?' वायु को कुछ ढाढस हुआ। शरीर को कुछ सजीव बनाने की चेष्टा करते हुए उन्होंने कहा—'सौम्य! मेरा नाम वायु है। सारे संसार का जीवन मेरे हाथ में रहता है। क्या तुम मुझे जानते नहीं? सारी पृथ्वी की सुगंध मैं अपने में समेट कर कहता हूँ, इसी से कोई-कोई मुझे गंधवाह भी कहते हैं। संसार की कोई भी वस्तु आसमान में नहीं चल सकती पर मैं वहाँ भी बे-रोकटोक चलता हूँ, इसी से मातरिश्वा नाम भी मेरा सब जानते हैं। इसी तरह मेरे अनेक नाम हैं। क्या आज तक तुमने मेरा एक नाम भी नहीं सुना है?'

मुसकराते हुए तेजस्वी पुरुष ने वायु के बनावटी चेहरे पर एक नजर डाली। वायु का रहा-सहा धीरज भी जाता रहा। आँखें एकदम मुँद गयीं। नसों में सनसनाहट पैदा हो गयी। तेजस्वी पुरुष ने कहा—'भाई! नाम तो मैंने तुम्हारा अवश्य कहीं सुना है; पर काम देखना चाहता हूँ। क्या तुम अपने काम के बारे में कुछ हमें बतला सकते हो।' वायु को विश्वास हो गया कि जो मेरा नाम जानता है वह मेरी प्रतिष्ठा भी करेगा। उसके सामने अपने कामों को दिखा देना ठीक ही है। बलपूर्वक स्वर को कुछ गम्भीर बनाते हुए उन्होंने कहा—'मैं इस सारे ब्रह्माण्ड को हिला सकता हूँ। आसमान के तारों और ग्रहों को गिरा सकता हूँ। इन पहाड़ों अथवा पेड़ों की क्या शक्ति है जो मेरे सामने थोड़ी देर भी टिक सकें।'

यह सुनकर भगवान् ने घमण्डी वायु के शरीर को निस्तेज करते हुए अपना सारा तेज पल भर में खींच लिया, जिससे वह गिरते-गिरते बचे। किन्तु एक बार डींग हाँक कर भागना भी सरल नहीं था। वह तिनका अभी उसी जगह पड़ा था। भगवान् ने कहा—'भाई! यह

जो तिनका तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है, उसे उड़ाकर दूर तो कर दो, क्योंकि तभी मुझे तुम्हारी शक्ति पर कुछ विश्वास होगा।'

वायु ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। पर तिनका ज्यों का त्यों पड़ा रहा। उस समय वह हिमालय से बढ़कर भारी बन गया। उड़ना तो दूर उसमें कम्पन भी नहीं हुआ। निश्चेष्ट वायु बड़ी देर तक बल आजमाते रहे पर सब बेकार रहा। आखिरकार शिर नीचे कर चुपके से वह भी पीछे चले आये। और किसी तरह चुपचाप आकर देव-सभा के एक कोने में छिप से गए।

देवराज इन्द्र ने वायु का उदास चेहरा देखकर सब कुछ ताड़ लिया। सारी देवसभा मूर्तियों की तरह निश्चेष्ट होकर बैठी रही। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद देवराज ने पूछा—'भाई वायु! वहाँ का कुछ हाल तो बताओ। इस तरह शरमाने की जरूरत नहीं है। मैं जानता हूँ कि अपनी शक्ति भर तुमने प्रयत्न किया होगा।'

वायु ने विनत स्वर में कहा—'देवराज! वह अद्भुत तेजस्वी यक्ष पुरुष पता नहीं कौन है? मैं उसका कुछ भी भेद नहीं जान सका।' वायु की निराश बातें सुन देवताओं के होश गुम हो गये। चीरो तो खून नहीं। जिस वायु और अग्नि के बल का उन्हें घमण्ड था, जब उनका ही यह हाल हुआ तो पता नहीं अब कौन-सी नयी विपदा आने वाली है। सभी बड़े सोच में पड़ गये।

देवताओं के गुरु बृहस्पति परम बुद्धिमान् और भविष्यदर्शी थे। अग्नि और वायु की गर्व भरी बातें जरा भी नहीं सुहाती थीं। इसलिए उन लोगों की इस अप्रतिष्ठा से उन्हें तनिक भी अफसोस नहीं हुआ। अपने ऊँचे आसन से उन्होंने एक बार सबकी ओर दृष्टि फेरते हुए इन्द्र से कहा—'देवराज। उस तेजस्वी पुरुष का पता आपको छोड़-कर किसी दूसरे से नहीं लगेगा। कृपाकर आप ही जाकर उसका पता लगाइये और सबको निश्चिन्त कीजिए।' इन्द्र विवश थे। लाचार होकर उन्हें स्वयं उस तेजस्वी पुरुष के पास जाना पड़ा।

इधर देवता लोग मन ही मन बहुत दिनों बाद आज इस नयी विपदा में पड़कर भगवान् का ध्यान करने लगे थे।

× × ×

किसी तरह उस तेजस्वी यक्ष पुरुष के पास जब देवराज इन्द्र पहुँच गये तो उन्होंने देखा कि वह तेज सम्पूर्ण आकाश और पृथ्वी को एक बारगी चकाचौंध करते हुए पता नहीं कहाँ गायब हो गया परन्तु उनकी आँखों में अब भी लाल, पीला, नीला, हरा प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ रहा था। थोड़ी देर तक खड़े रहने के बाद जब उनकी आँखें कुछ ठीक हुईं तो देखने पर वहाँ ऐसी कोई वस्तु विद्यमान नहीं थी। बेचारे देवराज बड़े विस्मय में पड़ गये।

कुछ भी हो। जिन्होंने देवताओं पर इतने दिनों तक शासन किया, परम बुद्धिमान तथा शक्तिशाली असुरों को हराया, वह इतनी जल्दी हिम्मत कैसे हारते। उन्होने समझ लिया कि सिवा भगवान् के और किसी दूसरे की करतूत यह नहीं है। बस, देवराज वहीं समाधि में बैठ कर ध्यान करने लगे। बड़ी देर तक ध्यान करते रहने के बाद उन्हें आसमान से फिर उसी तरह का तेजःपुञ्ज नीचे उतरता हुआ दिखाई पड़ा; पर इस बार वह तेजःपुञ्ज पुरुष रूप में नहीं था। अपनी एक सहस्र आँखों से ध्यान-पूर्वक देखने पर इन्द्र को पता लगा कि उसके सारे शरीर पर सोने के आभूषणों की शोभा विराजमान है। शरीर की कान्ति भी एक दम सोने की तरह दमक रही है। उन्हें हैमवती (हिमवान् पुत्री) पार्वती का ध्यान आया और सचमुच वह वही थीं। समीप आकर वह गम्भीर मुद्रा में इन्द्र की ओर देखते हुए खड़ी हो गयीं। देवराज इन्द्र भी सहम कर समाधि से उठ खड़े हुए और सादर झुक कर उन्होंने प्रणाम किया।

थोड़ी देर तक खड़े रहने के बाद इन्द्र ने विनय भरे स्वर में पूछा—'आप सारे संसार की जननी हैं। भगवान् शंकर की आधार स्वरूप हैं। आपसे इस चराचर संसार में कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं है। अभी थोड़ी ही देर हुई, यहीं पर एक परम तेजस्वी यक्ष पुरुष दिखाई पड़ा था।

मैंने अग्नि और वायु को उसका भेद जानने के लिए भेजा पर वह निराश लौट गये कुछ भी नहीं जान सके कि वह तेजस्वी पुरुष कौन था। अंत में निरुपाय होकर मुझे स्वयं आना पड़ा। मगर समीप आते-आते वह जाने कहाँ विलीन हो गया। हे देवि! आप उस तेजस्वी पुरुष को अवश्य जानती होंगी। कृपया उसका भेद बतलाकर मेरे मन का विस्मय दूर कीजिए।'

जगदम्बा को अपने पुत्र पर दया क्यों न आती? अपने मुखचन्द्र के हास्य रूप अमृत से इन्द्र के मुरझाये हुये चेहरे को सींचती हुई वह बोलीं—'वत्स! वह तेजस्वी यज्ञ पुरुष कोई साधारण पुरुष नहीं था, वह साक्षात् ब्रह्म था, जिसका भेद अग्नि और वायु क्या बता सकेंगे? सारे संसार में ऐसा कोई नहीं है, जो उसका भेद जान सके। वही सबका उपकार करता है और सब का विनाश भी करता है। अच्छे काम करने वालों का वही साथी है और बुरे काम करनेवालों का वही शत्रु है। उसी ने तुम्हारी ओर से असुरों का विनाश किया है। तुम सब तो एक दिखावटी बहाने थे। उसकी इच्छा के बिना कोई चींटी की टाँग भी नहीं टेढ़ी कर सकता। अग्नि और वायु ने बहुत चाहा कि उस तिनके का कुछ बिगाड़ दें मगर उसकी जब इच्छा नहीं थी तो वह क्या कर सकते थे। उसी ब्रह्म की महिमा से ही तुम्हारे शत्रु असुरों का विनाश हुआ, क्योंकि वे हमेशा बुरे कामों में लगे रहते थे। मगर तुम लोग ने यह समझ लिया कि असुरों का विनाश हम सबों ने किया है। और यही समझ कर तुम सब में घोर अभिमान भी छाया हुआ है। उस अभिमान को छोड़ दो, वही सब पापों की जड़ है। भगवान् पाप से बड़ी घृणा करता है। वह किसी पाप करने वाले से घृणा नहीं करता बल्कि उसके अवगुणों से करता है। अवगुणों को छोड़ देने पर पापी से पापी भी उसका भक्त बन जाता है। थोड़े में यही समझ लो कि इस संसार में वही सबसे बड़ा दयालु और सब से बड़ा शक्तिशाली है। अपने अभिमान को छोड़ देने पर तुम सब पहले की तरह फिर उसके प्रिय पात्र बन जाओगे।'

भगवती पार्वती की इन सीधी-सादी बातों ने देवराज इन्द्र पर अपना अनुपम प्रभाव डाल दिया। उनकी अभिमान से काली आत्मा इस उपदेश रूपी अमृत से धुलकर चमक उठी। आँखों से कृतज्ञता के आँसू निकल पड़े और दिल की सारी जलन बाहर हो गयी। माता के चरणों पर गिरकर उन्होंने उसके वरदायी हाथों का कोमल और सुखदायी स्पर्श अनुभव किया। आखिरकार चिरकाल तक सुखी होने का पवित्र आशीर्वाद पाकर देवराज इन्द्र अपनी सभा की ओर वापस लौटे और जगदम्बा पार्वती भी आशीर्वाद देकर वहीं अन्तर्धान हो गयी।

इधर देवसभा उत्सुक आँखों से कल से इन्द्र की राह देख रही थी। इन्द्र के पहुँचते ही सब देवता उठकर खड़े हो गये। उस समय उन्होंने देखा कि सहज प्रसन्नता और भीतरी शान्ति से इन्द्र का तेज कई गुना अधिक हो गया था। ब्रह्म के निर्मल प्रकाश में उन्हें संसार के सब तत्व स्पष्ट हो रहे थे। कोई गाँठ उनके हृदय के कोने में नहीं रह गई थी और न कोई आशंका की सिहरन ही थी। इशारे से सब देवताओं को अपने-अपने आसनों पर बैठने का आदेश देकर वह अपने रत्नजटित सिंहासन पर जाकर बैठ गये, और सब देवताओं के बीच में सर्वप्रथम वहीं पर ब्रह्म का उपदेश किया। इन्द्र के उपदेश रूपी अमृत में अग्नि और वायु आदि गर्वोन्मत देवताओं की कलुषित और मुमुर्षु आत्मा भी हरी भरी हो गयी और ब्रह्मरस के अद्भुत संचार से उनकी पूर्व शक्ति फिर वापस आ गयी। सारे देवताओं की दूषित भावनाएँ सदा के लिए दब गयीं। सब लोग नए सिरे से जन्म पाने के समान सुखदायी जीवन का अनुभव करने लगे।

अब वह सचमुच विजयी देवता बन गये थे, क्योंकि उनके भीतरी शत्रु घमण्ड रूपी असुर की सदा के लिए मृत्यु हो गई थी जो करोड़ों असुरों से भी बढ़कर भयानक थे।[१]

[१] केन उपनिषद् के आधार पर

नचिकेता का साहस

[२]

बात बहुत पुरानी है। उस समय हमारे देश में यज्ञों का बहुत प्रचार था। हर एक गाँव में महीने भर में दो-चार यज्ञ हुआ करते थे। यज्ञ के सुगंधित धुएँ से आकाशमण्डल धूमिल बना रहता था। पवित्र शान्त सुगन्धित पवन के मन्द-मन्द झोकों से चारों ओर का वातावरण बहुत स्वास्थ्यप्रद और रमणीक बना रहता था। वेद के पवित्र मंत्रों के उच्चारण से दिशाएँ गूँजती रहती थीं। लोगों के दिन आनन्द और मस्ती में क्षण के समान बीतते थे। न किसी को खाने पीने की कमी रहती थी और न शत्रुओं का भय। सभी लोग सत्य बोलते थे, जीव मात्र के लिये मनमें उपकार की भावना रखते थे और किसी छल-छिद्र का उन्हें कोई पता नहीं रहता था। ऐसे पवित्र सत्य युग में महर्षि गौतम के वंश में बाजश्रवा के पुत्र उद्दालक नाम के एक महात्मा ऋषि थे। उद्दालक की गृहस्थी बहुत बड़ी तो नहीं थी पर गौओं का एक बहुत बड़ा झुण्ड उनके पास अवश्य था। वेदाभ्यास में निरत एक तपस्वी ब्राह्मण के लिए उस समय वह बहुत बड़ी सम्पत्ति थी।

जब उद्दालक वृद्ध हो चले तो एक दिन उनके मन में यह विचार आया कि 'सारी उमर बीतती जा रही है, अभी तक मैंने कोई बड़ा यज्ञ नहीं किया। इन छोटे-छोटे यज्ञों से क्या मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है? यह धन सम्पत्ति और किस काम आएगी? इनके रखने से भी तो शांति नहीं मिलती, सन्तोष नहीं होता। अच्छा होगा कि सर्वमेध यज्ञ करके गृहस्थी का सारा झंझट बहुत कुछ कम कर दिया जाय।'

इस तरह बहुत कुछ सोचने-विचारने के बाद उद्दालक ने सर्वमेध

यज्ञ करने का विचार पक्का किया। सर्वमेध कोई मामूली यज्ञ नहीं था, उसे बड़े-बड़े राजा लोग करते थे। उसमें यजमान को अपना सब कुछ दक्षिणा में दान कर देना पड़ता था। उसके लिए शास्त्रों में कहा गया है कि 'जो सच्चे भाव से सर्वमेध यज्ञ करता है वह मृत्यु को जीत लेता है और संसार के सभी दुःखों से सदा के लिए दूर हो जाता है।'

\+ \+ \+

उद्दालक का सर्वमेध यज्ञ प्रारम्भ हो गया। देश के कोने-कोने के बड़े-बड़े विद्वान्, पण्डित और महात्मा लोग उस यज्ञ में सम्मिलित हुए। इस यज्ञ में उद्दालक ने सचमुच अपनी सारी गृहस्थी समाप्त कर दी। पूर्णाहुति का पुण्य दिन आया, वेदों के पवित्र मंत्रों का उच्चारण करते हुए पण्डितों ने आकाशमण्डल को गुँजा दिया। यज्ञधूम की चंचल सुगन्धित लहरें क्षितिज तक व्याप्त हो गयीं। पुण्यात्मा उद्दालक ने मांगलिक गीतों और वाद्यों की आकाश-भेदी ध्वनियों के बीच में नारियल की अन्तिम आहुति यज्ञकुण्ड में समर्पित की और चारों ओर से उनका जय जयकार होने लगा। अब पुरोधा पण्डितों तथा आगत महात्माओं को दक्षिणा देने की बेला आयी। गौओं को छोड़कर उद्दालक के पास कोई वस्तु शेष नहीं थी अतः वह उनमें से एक-एक गाय दक्षिणा रूप में देने लगे।

अपनी सब गौओं का दान करते समय उद्दालक की पवित्र आत्मा भी सर्वस्व त्याग की कठोरता से काँप उठी। वह मन ही मन सोचने लगे—'सब गौएँ दे डालने पर जीविका कैसे चलेगी? बेटा भी अभी उम्र का छोटा है, क्या खायगा? मेरा वृद्ध शरीर भी अब इस योग्य नहीं रहा कि परिश्रम करके प्रति दिन की जीविका पैदा कर सकूँ।' वह सचमुच विचलित हो गये। लोभ की इस क्षीण काली रेखा ने धीरे-धीरे उनके निर्मल हृदय में घना रूप बना लिया। उन्होंने गौओं के समूह की ओर दृष्टि डाली, देखा तो जितने पण्डित अभी शेष थे उससे अधिक गौएँ बचती थीं, मगर उनमें बहुतेरी बुड्ढी गौएँ भी थीं।

वह तुरन्त ही कुश और अक्षत को नीचे रखकर गौओं के समूह की ओर चले गये। वहाँ कपट से विचलित हो कर अच्छी-अच्छी गौओं को पीछे की ओर छोड़कर बुड्ढी और अधेड़ गौओं को आगे की ओर हाँक लाये और उसी में से एक एक करके पण्डितों को दक्षिणा में देने लगे। उनकी इस चालाकी का पता किसी को कानों कान नहीं लगा; पर उनका बेटा नचिकेता, जिसकी उमर अभी दस-बारह साल से कम ही थी, यह सब चुपचाप देख रहा था।

नचिकेता का निष्पाप कोमल हृदय पिता की इस काली करतूत पर काँप उठा। उसने देखा कि महीनों तक अनवरत परिश्रम करने वाले पुरोहितों और पण्डितों को ऐसी-ऐसी गौएँ दी जा रही हैं, जो एकदम बुड्ढी हो चली हैं, न उनसे बछड़े की कोई आशा है, न दूध की। यहाँ तक कि उनमें से कुछ इतनी जर्जर हो गई हैं, जो न कुछ खा सकती हैं न अधिक पानी ही पी सकती हैं। इन जीवन्मृत गौओं को दान में दे कर पिता जी पण्डितों के साथ कितना विश्वासघात कर रहे हैं, यह सोचकर वह बहुत ही दुःखी हुआ। उसने पीछे की ओर देखा तो बड़ी अच्छी-अच्छी गौएँ चर रही थीं, और उद्दालक उनकी ओर तनिक भी ध्यान न देकर इन जर्जरित गौओं का चुपचाप दान करते जा रहे थे। सामने जितनी वृद्ध गौएँ खड़ी थीं उतने ही पण्डितों को दान भी देना शेष था। नचिकेता सोचने लगा—'क्या पिता जी सचमुच सर्वमेध यज्ञ कर रहे हैं? नहीं, नहीं। यह पापमेध है, कपटमेध है, सर्वमेध नहीं। शायद पिता जी मेरे लिये इनको रख छोड़ते हों। हाँ। मगर उन्हें ऐसा तो नहीं करना चाहिये। यज्ञ-नारायण के साथ कपट करके वह मेरा कल्याण किस प्रकार कर सकते हैं? इस प्रकार के कपट व्यापार से बचाई गई ये गौएँ मेरा भी सत्यानाश कर देंगी। पण्डितों का मूक अभिशाप हमारे परिवार का भीषण विनाश कर देगा। पिता जी गिर रहे हैं, इनको बचाना या ठीक रास्ते पर लाना मेरा कर्त्तव्य होता है। मुझे ऐसे अवसर पर

चुप नहीं रहना चाहिए। विचारों के इस प्रखर प्रवाह में बहकर नचिकेता पिता के समीप गया और हाथ जोड़कर बोला—'तात ! यह तो सर्वमेध यज्ञ है न ?'

उद्दालक का मुख भीतर पाप की काली छाया से उस समय मलिन पड़ रहा था। ब्रह्मवर्चस् एवं सर्वस्व-त्याग की वह आभा जो अभी तक उनके उन्नत ललाट में दीपशिखा के समान जल रही थी, राख-सी काली पड़ गई थी। पुत्र की सुमधुर विनीत वाणी में 'सर्वमेध' का नाम सुनकर वह भीतर से और भी काँप उठे। परन्तु चुप कैसे रह सकते थे। मुख पर मुसकराहट की बनावटी रेखा बनाते हुए बोले—'हाँ वत्स ! यह स...स सर्वमेध यज्ञ है। बात क्या है ?''

उद्दालक तुतलाते तो नहीं थे पर पाप तो शिर पर चढ़ कर बोलता है ! अपनी दुष्कृति पर वह फिर से काँप उठे। पर पाप तो उन्हें अपने पथ पर बहुत दूर तक खींच चुका था, वहाँ से लौटना उद्दालक जैसे के लिए आसान काम नहीं रह गया था।

नचिकेता चुप बना रहा। फिर आगे बोलने की उसमें सहसा हिम्मत नहीं पड़ी। वह समझता था कि 'सर्वमेध' का स्मरण दिला देना ही पिता जी के लिए पर्याप्त होगा; पर उसके पिता यह कैसे समझते कि नचिकेता क्या चाहता है ? फिर वह उन्हीं बुड्ढी गौओं में से एक गाय लाकर सामने बैठे हुए पुरोहित को दान करने जा रहे थे। नचिकेता विवश होकर अनजाने में फिर बोल उठा—'मेरे तात ! इन सब गौओं को देने के बाद मुझे किसे दीजिएगा ! आपने तो बताया था न, कि इस यज्ञ में अपना सब कुछ दे दिया जाता है।'

उद्दालक सिहर उठे। एक अज्ञात भय एवं पाप की भयावनी मूर्ति-सी उन्हें दिखाई पड़ी। परन्तु वह पाप-पथ से पीछे नहीं लौटे। नचिकेता का समाधान करना भी उन्होंने उचित नहीं समझा। आँखों को तरेर कर उन्होंने एक उड़ती-सी निगाह नचिकेता पर डाली, जिसका तात्पर्य शायद यह था कि 'यहाँ से चले जाओ, व्यर्थ की

बकवास मत करो।' पर नचिकेता वहीं खड़ा ही रहा। उसने देखा कि पिता जी अब एक ऐसी गाय का दान करने जा रहे हैं जो उठाने की कोशिश करने पर भी नहीं उठ रही है और उधर दान लेने वाले पुरोहित का मुख उदास हो गया है। फिर भी पिता जी उस गाय को उसी तरह बैठे ही बैठे दान कर रहे हैं। वह एक दम विह्वल हो गया। उसने तय कर लिया कि पिता जी को अब ऐसा घोर पाप नहीं करने दूँगा। झटपट गाय के पास खड़े होकर उसने फिर वही बात दुहराई! 'मेरे तात! इस सर्वमेध यज्ञ में मुझे किस ब्राह्मण को दान कर रहे हैं। मैं उसे देखूँगा। मैं भी तो तुम्हारा ही हूँ न।'

उद्दालक की पाप भावना ने कठोर क्रोध का स्वरूप धारण कर लिया। उनकी साँसें जोर-जोर से चलने लगीं। नथुने फड़कने लगे, दाँतों की ऊपरी पंक्ति ने निचले होंठ को चबा लिया। आँखों से दाहक अंगार की ज्वाला-सी निकलने लगी। हाथ में लिए हुए कुश, अक्षत और जल को नीचे फेंकते हुए वह भीषण स्वर में बरस पड़े— 'पापात्मा कुपुत्र! तुझे मैं यमराज को दान कर रहा हूँ, जा तू उसे शीघ्र ही देखेगा।'

विशाल यज्ञमण्डप में एक छोर से दूसरे छोर तक उद्दालक के कठोर स्वर ने भीषण आतंक की लहर-सी फैला दी। जो जहाँ खड़े या बैठे थे, ठगे-से रह गये। धर्म के अवसर पर यह महान् अनर्थ। मंगल में अमंगल। सब के देखते-देखते नचिकेता यमराज के घर जाने की तैयारी में लग गया। वह सचमुच धरती पर गिर पड़ा था और उसके मुख पर एक अपूर्व ज्योति की छटा विराजमान हो रही थी। कहने को तो उद्दालक के मुख से तीर के समान वह कठोर बचन निकल गया पर उसकी भीषण यथार्थता ने उन्हें विकम्पित कर दिया। एक-लौते प्रिय पुत्र की मृत्यु के घर जाने की बात को वह किस प्रकार बर्दाश्त कर सकते थे। चारों ओर से लोग दौड़ पड़े और घेर कर नचिकेता के पास खड़े हो गये।

सत्याग्रही नचिकेता जब इस लोक से पिता की आज्ञा प्राप्त कर मृत्यु के लोक जाने का निश्चय कर चुका तो उसे वापस कौन ला सकता था। उद्दालक का सहज वात्सल्य कृत्रिम क्रोध को दूर भगाकर उमड़ पड़ा। पुत्र को स्नेह से अंक में उठाते हुए वह गद्‌गद कण्ठ से बोले—'बेटा ! तू कहाँ जा रहा है ? मेरी बात का ध्यान न कर। मैं आवेश में यह सब कह गया। भला सोच तो सही, कि तेरे बिना मेरा बुढ़ापा कितना कठिन हो जायगा। मेरे प्यारे ! मैं पाप-पंक में फँस गया था, मेरी बुद्धि बिगड़ गई थी, तू उसका ख्याल न कर।'

परन्तु नचिकेता का लौटना आसान काम नहीं था। उसने दोनों हाथों को जोड़ कर विनीत स्वर में कहा—'पूज्य तात ! आप बतलाते थे कि मेरी इक्कीस पीढ़ियों से लेकर आज तक किसी ने अपना वचन कभी भंग नहीं किया है। मैं भी चाहता हूँ कि अपनी वंश-मर्यादा को सुरक्षित रखूँ। पिता की (आपकी) आज्ञा का उल्लंघन, वह चाहे जिस दशा में भी हो, मैं कभी नहीं कर सकता। आप भी अपना वचन निभाइये और प्रसन्नता के साथ मुझे मृत्यु के घर सकुशल पहुँचने का आशीर्वाद दीजिए।'

उद्दालक नचिकेता की इस निश्चय भरी विनत वाणी से विचलित हो गये। गले से लगाते हुए क्षीण स्वर में उन्होंने कहा—'मेरे प्यारे! मैं उस निर्मम मृत्यु के घर जाने का आशीर्वाद तुझे नहीं दे सकता, जिसके स्मरण मात्र से मेरा हृदय काँप रहा है। उसके पास तू कैसे जायगा। कुसुम के समान कोमल तेरा शरीर कठोर मृत्यु के पास जाने योग्य नहीं है। बेटा ! मैंने अपराध किया है, भले ही मुझे वचन भंग करने का पाप लगे; पर मैं तुझे वहाँ कदापि नहीं जाने दूँगा।'

नचिकेता ने आँखें खोलकर देखा तो उद्दालक की आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बह रही थी। अपने कोमल हाथों से आँसू को पोंछते हुए उसने कहा—'पूज्य तात ! मैं उस मृत्यु को तनिक भी नहीं डर रहा हूँ, जिसके लिए आप घबरा रहे हैं। आप मेरी चिन्ता

छोड़ दीजिए, और अपने पुण्यकर्मा पूर्वजों का स्मरण कीजिए, जिन्होंने प्राण गँवाकर भी अपने बचन रखे हैं। असत्य का व्यवहार स्वार्थी और पापी जन करते हैं, उस असत्य से कोई अमर नहीं होता। मेरी बड़ी इच्छा यह है कि मेरे इस कार्य से आपके और मेरे—दो पुरुषों के वचनों की रक्षा हो। मेरी ममता की डोर में बँधकर ही आप इतने विह्वल हो रहे हैं और इस तरह वचन-भंग करने का पाप अपने पवित्र कुल में लगा रहे हैं। मेरे न रहने पर आप अपना सर्वस्व त्याग कर सर्वमेध यज्ञ का महान् पुण्य पायेंगे। पुत्र का यही कर्त्तव्य है कि वह अपना सर्वस्व गँवाकर भी पिता के वचनों का पालन करे, उसकी इच्छा की पूर्ति करे। मेरे तात! मैं इस अपूर्व अवसर को सामने पाकर छोड़ नहीं सकता। मुझे रोक कर आप यज्ञ की समाप्ति में विलम्ब मत लगाइये। सर्वस्व त्याग कर सर्वमेध यज्ञ के इतिहास में अपना अमर यश छोड़ जाइये।'

पुत्र की दृढ़ निश्चय और प्रेरणा से भरी बातें सुनकर उद्दालक में कुछ आगे कहने की हिम्मत नहीं पड़ी। यज्ञमण्डप में कुमार नचिकेता ने अपने पूज्य पिता के चरणों पर शीश धरकर मृत्यु लोक का मार्ग ग्रहण किया। सारी जनमण्डली चित्र के समान खड़ी देखती रह गयी। वह अपने कर्त्तव्य-पथ पर कमर कस कर साहस और प्रसन्नता के साथ आगे चल पड़ा।

× × ×

मृत्यु अर्थात् यमराज के घर का मार्ग सचमुच बड़ा भयावना था। नचिकेता ने देखा कि अपने-अपने कर्मों के कारण लोग मृत्यु से किस तरह घबराते हैं। हृदय में छाई हुई पाप की रेखाओं से लोगों का मन इतना भयभीत है कि सारे मार्ग में हाहाकार मचा हुआ है। कोई अपने पुत्र के लिए रो रहा है तो किसी को पत्नी के वियोग का दुःख है। परन्तु नचिकेता को तो सचमुच अपूर्व आनन्द मिल रहा था। प्रसन्नता और उत्साह के साथ उसने मार्ग की सारी कठिनाइयों

का अन्त कर दिया। पिता की आज्ञा के पालन करने में उसे यहाँ जो शान्ति मिल रही थी वह भूलोक के मायिक जीवन में कहीं नहीं थी। निर्भीक नचिकेता जिस समय मृत्यु के द्वार पर पहुँचा उस समय संयोग से यमराज कहीं बाहर गये हुए थे। अतः द्वारपालों ने उसे भीतर घुसने की अनुमति नहीं दी। विवश होकर उसे बाहर एक वृक्ष के नीचे सुन्दर चबूतरे पर बैठ कर यम की प्रतीक्षा करने को कहा गया। वह वहीं पर चुपचाप बैठकर यम की प्रतीक्षा करने लगा।

कुछ ऐसा काम पड़ गया था कि यमराज तीन दिनों तक बाहर से अपने घर लौट नहीं सके थे। नचिकेता अविचलित मन से वहीं शान्ति-पूर्वक बैठकर उनकी प्रतीक्षा करता रहा। बीच-बीच में वह यह सोच कर पुलकित हो जाता कि अब मेरे पिता जी ने उन अच्छी गौओं को दान में देकर सर्वमेध यज्ञ को पूरा कर लिया होगा। चौथे दिन यमराज अपने पुर को वापस आये। महल में प्रवेश करते हुए उन्होंने देखा कि एक परम तेजस्वी सुन्दर बालक हाथ जोड़कर सामने खड़ा है, उसमें भय की कोई रेखा नहीं है। यमराज ने मुसकराकर पूछा—'कुमार! तुम कौन हो और यहाँ किस काम के लिए आए हो?'

नचिकेता के बोलने के पूर्व ही यमराज के दोनों द्वारपालों में से एक ने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! यह तेजस्वी बालक तीन दिन हुए तबसे यहीं बैठा हुआ है, न इसने कुछ खाया है, न कुछ पिया है।'

यमराज का कृत्रिम-कठोर हृदय भी किशोर नचिकेता की करतूतों को सुनकर करुणा से उमड़ पड़ा। उन्होंने मुसकराते हुए कहा—'बेटा! तुम कौन हो और क्यों यहाँ आए हो? शीघ्र बतलाओ! मैं भी बिना तुम्हारा काम किए हुए अन्न जल नहीं ग्रहण करूँगा।'

नचिकेता यमराज की इस सहज उदारता को देखकर निहाल हो उठा। पिता ने यम के बारे में कितना गलत बतलाया था कि वह बड़े भयानक है पर यह तो कितने दयालु हैं। सचमुच इनकी बातों को सुनकर मैं अपूर्व सन्तोष पा रहा हूँ। थोड़ी देर तक मृत्यु के तेजस्व

मुख की ओर निर्निमेष ताकते हुए नचिकेता विनीत स्वर में बोला—'देव! मैं मुनिवर उद्दालक का पुत्र हूँ, मेरा नाम नचिकेता है। मेरे पूज्य पिता जी ने अपने सर्वमेध यज्ञ में मुझे दक्षिणा के रूप में आपको प्रदान किया है। आप मुझे सस्नेह ग्रहण कर उन्हें यज्ञ की सम्पन्नता का आशीर्वाद दीजिए। मैं यहाँ इसीलिए आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।'

यमराज तेजस्वी ब्राह्मण कुमार नचिकेता की निर्भीकता पर ठगे-से खड़े रह गये। उन्होंने मन में सोचा, यज्ञ की दक्षिणा में सुकुमार पुत्र का दान और सो भी मुझको। धन्य है वह पिता, और धन्य है यह पुत्र! ऐसे दृढ़ निश्चयी ब्राह्मणों के लिए हमारा शतशः प्रणाम है। अपने जीवन में मैंने कभी ऐसे साहसी और सत्यनिष्ठ बालक को कहीं नहीं देखा है। ऐसे पुत्ररत्न के पैदा करने वाले पिता सचमुच धन्य हैं। विचारों की बाढ़ में यमराज बहने लगे। इस तरह थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद उन्होंने नचिकेता के शिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'बेटा! मेरे यहाँ आते हुए तुम डरे नहीं! तुम्हारे पिता ने भी कुछ नहीं सोचा। धीर से धीर लोग भी यहाँ आने में विचलित हो जाते हैं। तुम धन्य हो।'

नचिकेता ने कहा—'देव! मैं इस संसार में केवल पाप से डरता हूँ, आप पाप तो हैं नहीं? मैं तो आपको सारे संसार को शान्ति देनेवाला मानता हूँ। आपके समान उपकारी इस जगत में दूसरा कौन है जो मनुष्य के दीन हीन सन्तप्त जीवन को चिर शान्ति देता हो।

कुमार नचिकेता की भोली-भाली बातों को सुनकर यमराज बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'कुमार! मुझे बहुत दुःख है कि तुम्हारे समान तेजस्वी निर्मलहृदय ब्राह्मण कुमार को मेरे दरवाजे पर तीन दिन तीन रात तक भूखा रहना पड़ा। बिना कुछ ओढ़े बिछाए तुम इस चबूतरे पर पड़े रहे। मेरे आतिथ्य धर्म की इससे बड़ी हानि हुई है। मुझे सचमुच इसका बहुत खेद है। अपने इस खेद को कम करने के लिए

ही मैं तुझे तीन बरदान देना चाहता हूँ। तुम जो कुछ चाहो मुझसे माँग सकते हो। ब्राह्मणकुमार! सचमुच तुम्हारे जैसे साहसी बालक के लिए मैं तीनों लोकों में कोई भी वस्तु अदेय नहीं समझता।'

यमराज की बातें सुनकर नचिकेता आनन्द के समुद्र की हिलोरें लेने लगा। वह कुछ क्षण के लिए सोचता रहा। फिर हाथ जोड़कर बोला—'भगवन्! मैं तो आपही का दास हूँ। यह आपकी महत्ता है जो मुझे एक अतिथि का सम्मान देकर वरदान देना चाहते हैं। मैंने कोई बड़ा काम भी नहीं किया है, पर उसके बदले मुझे बरदान देकर आप अपनी दयालुता का परिचय दे रहे हैं। लोग संसार में झूठे ही आपके नाम से भय खाते हैं, आपके समान सहज दयालु कौन है जो अपने कर्त्तव्य पालन करने वाले को भी बरदान देता है।'

नचिकेता इतना कह कर चुप हो गया। वह सोच रहा था कि मैंने कोई ऐसा काम नहीं किया है, जिसके बदले में वरदान की याचना की जाय। इसी बीच यमराज फिर बोल पड़े—'कुमार! तुम संकोच मत करो, बिना तुझे वरदान दिए हुए मैं अन्न-जल तक नहीं ग्रहण कर सकता।'

नचिकेता विवश हो गया। हाथ जोड़कर विनीत भाव से बोला—'भगवन्! मैं अपने पूज्य पिता का इकलौता बेटा था। उनकी सेवा के लिए कोई दूसरा प्राणी मेरे घर पर नहीं है। मेरे यहाँ चले आने से उन्हें अपार कष्ट हो रहे होंगे, क्योंकि उनका शरीर भी शिथिल हो गया है। अतः मुझे पहला वरदान यही दीजिये कि—'मेरे पिताजी पूर्ण स्वस्थ और नीरोग हो जायँ। मेरे विषय में उनकी चिन्ताएँ मिट जायँ और उनका क्रोध मेरे ऊपर से दूर हो जाय।'

यमराज ने दोनों हाथों को ऊपर उठाते हुए गम्भीर स्वर में कहा—'ब्राह्मणकुमार! तुम्हारी यह अभिलाषा पूरी हो। तुम्हारे पिता संसार की सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो जायँ। अब तुम मुझसे अपना दूसरा वरदान माँगो।'

नचिकेता थोड़ी देर तक मौन रहा। फिर हाथ जोड़ कर बोला—'देव! मैंने सुना है कि स्वर्ग में बड़ा सुख मिलता है। न वहाँ आपका (मृत्यु का) भय है न बुढ़ापे का। भूख और प्यास भी वहाँ किसी को नहीं सताती। आप उस स्वर्ग लोक के प्रमुख अधिकारी हैं। अतः उसे प्राप्त करने की विद्या तो अवश्य ही जानते होंगे। ऐसी कृपा कीजिये कि वह मुझे भी प्राप्त हो जाय। यह मेरी दूसरी अभिलाषा है।'

यमराज को आज प्रथमबार स्वर्गविद्या का सच्चा अधिकारी मिला था। अतः उसे देने में उन्हें अति प्रसन्नता हुई। गद्गद् कण्ठ से वह बोले—'नचिकेता! तुम्हें स्वर्गविद्या की प्राप्ति अपने आपही होगी। अब तीसरा वरदान माँगो। तुझे वरदान देते समय मुझे सचमुच बड़ी प्रसन्नता हो रही है।'

नचिकेता एक ऐसा ब्राह्मणकुमार था जिसका पिता जीवन की उपासना में ही छला गया था। अतः उसने अपने मन में विचारा कि विद्या में कौन ऐसा गूढ़ रहस्य है, जिसके कारण मेरे पूज्य पिता जी के समान ब्रह्मवेत्ता भी ठगे गये। उस रहस्य को तो अवश्य जानना चाहिये। विनीत वाणी में उसने हाथ जोड़ कर कहा—'देव! आप जीवन विद्या के अनन्य आचार्य कहे जाते हैं। मैं उस जीवन विद्या के गूढ़ रहस्य को जानना चाहता हूँ जिसके कारण मेरे पिता जी जैसे निस्पृह एवं तपस्वी को भी धोका हुआ। अतः आप कृपा कर मुझे उस जीवन विद्या का तत्त्व बतलाइये इसके सिवा अब मुझे किसी अन्य वरदान की आवश्यकता नहीं है।'

नचिकेता की बातों को सुन कर यमराज स्तब्ध रह गये। उन्हें स्वप्न में भी यह ध्यान नहीं था कि दस साल के इस ब्राह्मण किशोर में सांसारिक तत्त्वों की इतनी आकुल जिज्ञासा होगी। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद वह गम्भीर स्वर में जँभाई लेते हुए बोले—'कुमार! तुम जिस जीवनविद्या की चर्चा कर रहे हो वह तो बड़े-बड़े देवों के लिए भी दुर्लभ है। तुम शायद यह भूल गये कि मैं मृत्यु का देव हूँ, जीवन का नहीं, मेरा

नाम ही मृत्यु है, जीवन विद्या का मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम कोई दूसरा वर माँगो। यह वर पाकर भी तुम भला क्या करोगे!'

नचिकेता इस तरह धोके में पड़ने वाला बालक नहीं था। वह जानता था कि संसार में जीवन से बढ़कर दूसरी चीज कौन-सी है? जो जिन्दगी के सब तत्त्वों को जान लेगा उसे धन सम्पत्ति या स्वर्ग के राज से भी कोई मतलब नहीं रहेगा। अनमोल हीरे को छोड़कर मिट्टी का घरौंदा लेना उसे क्यों पसन्द आता? उसने दृढ़ता प्रकट करते हुये कहा—'भगवन्! यदि वह जीवन विद्या देवताओं को भी दुर्लभ है तब तो मैं सब प्रकार का कष्ट सहन करके भी उसे पाना चाहूँगा। आप जो यह कह रहे हैं कि आप केवल मृत्यु के देव हैं उसी से तो मुझे मालूम हुआ कि आप जीवन के तत्त्वों को पूर्णतया जानते हैं। क्योंकि जो अन्धकार को जानता है वही प्रकाश की किरणों को भी पहचानता है। बिना एक के जाने दूसरे का परिचय कैसे हो सकता है? मैं तो समझता हूँ कि आपके समान इस जीवन विद्या को सिखाने वाला दूसरा आचार्य मुझे कहीं अन्यत्र नहीं मिलेगा। देव! मैं इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी वर नहीं चाहता।'

यमराज ने एक बार फिर नचिकेता को इस निश्चय से डिगाने का असफल प्रयत्न किया, उसने कहा—'कुमार! तुम्हारे लिये मैं संसार का समस्त धन-वैभव देने को तैयार हूँ। तुम चाहो तो मैं सैकड़ों वर्ष की लम्बी उमर तुम्हें दे दूँ। पृथ्वी का सारा राज तुम्हारा कर दूँ, ऐसे ऐसे रथ, घोड़े और हाथी दे दूँ जो इच्छा करते ही जहाँ चाहो पहुँचा देंगे। दास, दासी, राजभवन, सुन्दरी स्त्री, पुत्र-पौत्रादि जो कुछ भी चाहो, तुम्हारे लिए प्रस्तुत कर दूँ। स्वर्गलोक और मृत्युलोक का सारा भोग विलास भी मैं तुम्हें दे सकता हूँ मगर ऐसा वर मुझसे मत माँगो, जिसकी देने की सामर्थ्य मुझमें है ही नहीं।'

नचिकेता चुपचाप यमराज की चतुरता भरी बातें सुनता रहा। यमराज के इन प्रलोभनों का उसके मन पर कुछ भी असर नहीं पड़ा।

हाथ जोड़कर विनम्र स्वर में वह बोला—'मृत्यु के देव! आपसे यह कहना न पड़ेगा कि संसार की यह वस्तुएँ, जिन्हें आपने मुझे देने की चर्चा की है, कितनी नश्वर हैं। एक क्षण के लिए भी इनका कोई ठिकाना नहीं है। भोग-विलास, राज-काज, स्त्री-पुत्र, हाथी-घोड़े यह सब किस मनुष्य के साथ-साथ मरने पर जाते हैं। लम्बी आयु भी तो एक न एक दिन खतम हो ही जायगी। मुझे तो ऐसी वस्तु की जरूरत है, जिसके पाने से मरना नहीं पड़ता। मैं तो उस जीवन विद्या को पाना चाहता हूँ, जिसे जानकर आप कभी मरते नहीं। हे महाराज! आपके समान परम शान्ति एवं सन्तोष देने वाले देवता की शरण में आकर भी कौन ऐसा अभागा होगा जो इन अशान्ति और असन्तोष पहुँचाने वाली नाशवान वस्तुओं की कामना करेगा? मुझे दूर मत फेंकिए। अपनी अमोघ कृपा का भजन बना कर इस तरह भुलावे में डालने की आशा मैं आपसे नहीं करता। देव! मुझे जीवन विद्या का शिष्य बनाइये और दूसरी बातें छोड़ दीजिए। मैं आपसे विना इस विद्या की प्राप्ति किए हुए कहीं अन्यत्र नहीं जा सकता।'

यम की इस अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण होकर नचिकेता का मुख मण्डल सुवर्ण के समान दमकने लगा। उसकी दृढ़ निश्चय से भरी बातें सुन कर यमराज और भी प्रसन्न हो गये। उनकी सहज करुणा फिर जाग पड़ी। दोनों भुजाओं से बालक नचिकेता को उठा कर गले लगाते हुए यमराज ने गद्‌गद स्वर में कहा—मुनिकुमार! तुम सचमुच धन्य हो। इस संसार में जन्म लेने वाले मनुष्य मात्र के जीवन में एक बार ऐसा अवसर उपस्थित होता है, जब उसके सामने दो रास्ते दिखाई पड़ते हैं। एक होता है श्रेय का अर्थात् सच्चे सुख और वास्तविक कल्याण का तथा दूसरा होता है प्रेय का अर्थात् भोग-विलास से भरा हुआ, दूर से आकर्षक किन्तु आगे चलने पर अशान्ति, दुःख और कठिनाइयों से पूर्ण। इनमें पहला उन्नति

अर्थात् ऊपर चढ़ने का, मनुष्य से देवता बनने का है तथा दूसरा पतन अर्थात् ऊपर से नीचे गिरने का, मनुष्य से राक्षस बनने का। बेटा! यह दोनों मार्ग मनुष्य को बड़े धोके में डालने वाले होते हैं। जो उन्नति का पहला श्रेय मार्ग मैंने बतलाया है वह देखने में बड़ा कंटकाकीर्ण और पथरीला है। शुरू-शुरू में उस पर चलना बहुत कठिन होता है। और इसके विपरीत दूसरा पतन का जो प्रेय मार्ग है, वह शुरू-शुरू में बहुत सरल, मन को गुमराह करने वाला और सुविधाओं से भरा हुआ दिखता है। मनुष्य इनके पहचानने में धोके में पड़ ही जाता है। तुम्हारी तरह बिरले ही लोग होते हैं, जो दूसरे को ठुकरा कर पहले पर अग्रसर होते हैं। वत्स! वही मनुष्य सच्चा वीर, विवेकी और भाग्यशाली भी है, जो तुम्हारी तरह मानव जीवन के तत्त्वों को ढूँढ़ने में सब कुछ भुला देता है। मेरे बार-बार के प्रलोभन दिखाने पर भी जो तुम अपने निश्चय से नहीं डिगे, वह असाधारण बात है। बड़े-बड़े देवता, ऋषि मुनि भी उस स्थिति में विचलित हो जाते हैं। वत्स! तुम धन्य हो। अब मैं तुम्हें जीवन विद्या की शिक्षा अवश्य दूंगा क्योंकि तुम उसके सच्चे अधिकारी हो। संसार में बहुत-से लोग अपनी प्रतिभा तथा बुद्धि द्वारा इस जीवन विद्या को जानने के लिए प्रयत्न करते हैं और थोड़े अंश में उसकी प्राप्ति भी उन्हें हो जाती है; पर उनके अपने जीवन में यथार्थ रूप में वह ओत-प्रोत नहीं होती। स्वार्थ, द्वेष, लोभ आदि के कारण उनकी आत्मा से उसका सहज सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। फल यह होता है कि कच्चे पारे की तरह शरीर के अंग-प्रत्यंग से वह फूट पड़ती है। ऐसे अनधिकारी, न केवल संसार को ही वरन् अपने आपको भी धोखा देते हैं। जो उस संजीवनी विद्या को सचमुच पाना चाहते हैं वह सबसे पहले तुम्हारी तरह उसे धारण करने की योग्यता प्राप्त करें। इसके लिए उन्हें संसार की सत्-असत् वस्तुओं की भलीभाँति परीक्षा कर लेनी चाहिए। सांसारिक भोग-विलास से बिल्कुल अलग हो जाना

चा हुए। मुनिकुमार! अब मैं तुझे उस जीवन विद्या का उपदेश कर रहा हूँ। आज तक तुम्हारे समान इस जीवन विद्या का सच्चा अधिकारी मुझे कोई नहीं मिला। तुम सचमुच धन्य हो!'

नचिकेता यम के दोनों चरणों पर अपना शीश रख कर धृष्टता के लिए क्षमा माँगने लगा। उस समय उसका हृदय कृतज्ञता से भर उठा था।

× × ×

यम ने जीवन विद्या या ब्रह्मविद्या का यथेष्ट उपदेश देकर अन्त में कहा—'हे तात! उस जीवन विद्या का मूल तत्त्व यही है कि जब मनुष्य की सारी इच्छाएँ बीत जाती हैं, जब मन सब प्रकार की मलिन वासनाओं से मुक्त हो जाता है, जब अन्तःकरण में कोई कालिमा की रेखा नहीं रह जाती, तब यह शरीर से मरणशील मनुष्य अमर बन कर उसी जीवन में ब्रह्म की प्राप्ति कर ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है, उसके हृदय की सारी गाँठें खुल जाती हैं और वह कभी नहीं मरता। यही जीवन विद्या का सारांश है जिसे मैं तुम्हें बता चुका। अब तुम अपने घर को वापस जाओ और अपने पूज्य पिता के प्यासे नेत्रों को तृप्त करो।'

सत्यकाम की गो-सेवा

[१]

महर्षि हरिद्रुम के पुत्र गौतम अपने समय के आचार्यों में सबसे बढ़े-चढ़े थे। उनके गुरुकुल में देश के कोने-कोने से सैकड़ों विद्यार्थी विद्या सीखने के लिए आते थे। जिस समय की यह चर्चा है उस समय गुरुकुलों में विद्यार्थियों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था, उनके खाने पीने और वस्त्र आदि का प्रबन्ध गुरु की ओर से ही होता था। इसका यह अर्थ नहीं कि गुरु लोग इतने धनी होते थे, किन्तु बड़े-बड़े राजा एवं गृहस्थ लोग उनकी आज्ञा से सदा गुरुकुल में अन्न-वस्त्र से सहायता किया करते थे। कुछ विद्यार्थी देहात से केवल अपने खाने भर का अन्न माँग लाते थे।

गौतम के गुरुकुल में अधिक भीड़ होने का कारण यह था कि वह अपने विद्यार्थियों के ऊपर कभी अप्रसन्न नहीं होते थे। उनका स्वभाव बड़ा दयालु था और पढ़ाने-लिखाने में भी वह वे-जोड़ थे। काठ के समान जड़ बुद्धि वाले बालक भी उनके यहाँ से एक दिन पण्डित बन कर घर लौटते थे।

एक दिन गौतम ऋषि के आश्रम में एक दस-बारह वष का बालक ब्रह्मचारी के वेश में आया, किन्तु न उसके हाथ में दूसरे ब्रह्मचारियों की तरह समिधा थी, न कमर में मुंज की मेखला थी, न कंधे पर मृगचर्म था और न कंठ में जनेऊ थी। किन्तु बालक बड़ा होनहार और स्वभाव से विनम्र दिख रहा था। गौतम के समीप जाकर उसने दूर से ही साष्टांग प्रणाम किया और बोला—'गुरुदेव! मैं आपके गुरुकुल में विद्या सीखने के लिए आया हूँ। मेरी माँ ने मुझे आपके पास भेजा है। मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक रहूँगा परन्तु मेरा अभी तक यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ है। भगवन्! मैं आपकी शरण में आया हूँ, मुझे स्वीकार कीजिए।'

भोले-भाले किन्तु तेजस्वी बालक के यह शब्द गुरु गौतम के निर्मल हृदय में अंकित हो गये। उसकी सरलता और तेजस्विता ने उन्हें थोड़ी देर के लिए विस्मित-सा कर दिया। थोड़ी देर तक अपने विद्यार्थियों की ओर देखने के बाद उन्होंने मृदु स्वर में पूछा—'वत्स! बहुत अच्छा किया जो तू यहाँ विद्या सीखने के लिए आया। तेरे पिता नहीं हैं क्या? तेरा गोत्र क्या है? मैं तुझे अवश्य विद्या सिखाऊँगा।' गुरु की सम्मति सुन कर पास बैठे हुए विद्यार्थियों में काना-फूसी होने लगी। बालक ने तुरन्त ही विनम्र स्वर में जवाब दिया—'गुरुदेव! मैंने अपने पिता जी को नहीं देखा है और उनका नाम भी नहीं जानता। अपनी माँ से पूछने के बाद मैं आपको बता सकता हूँ। मेरा गोत्र क्या है, इसका भी कुछ पता मुझे नहीं है। किन्तु गुरुदेव! इसे भी मैं माँ से पूछ कर बतला सकता हूँ। मैं आपकी सेवा में रात-दिन रहूँगा और ब्रह्मचर्य का ठीक-ठीक पालन करूँगा।'

बालक की भोली-भाली बातें सुनते ही गौतम की शिष्य मण्डली में एक दबी-सी खिलखिलाहट फूट निकली। अपने मुँह को बगल में बैठे हुए साथी के कान के पास ले जाकर एक शिष्य ने कहा—'भाई! अब सुनो। दुनिया में ऐसे भी लोग होते हैं, जिन्हें अपने पिता और गोत्र का नाम ही नहीं मालूम रहता। तिस पर वेद पढ़ने के लिए आया है। मालूम होता है कि ब्राह्मण नहीं है।'

साथी ने कहा—'मुझे भी ऐसा लग रहा है। लेकिन भाई! है तो तेजस्वी। देखो न, बात कितनी गम्भीरता से कर रहा है, मुझे याद है कि जब मैं पहली बार गुरुकुल में आया तो किसी से बोलने की हिम्मत ही नहीं पड़ती थी यद्यपि मेरे पिता जी भी साथ-साथ थे। मगर इसे देखो तो ऐसा लगता है मानो यहीं जनम भर से रहता है।'

एक सयाना समझा जाने वाला शिष्य गौतम का मुँह लगा था। उसने मुसकराते हुए कहा—'गुरुदेव! क्या आपके गुरुकुल में ऐसे भी छात्र प्रवेश पा सकते हैं, जिनका यज्ञोपवीत संस्कार भी नहीं हुआ

रहता। यदि ऐसा है तो कल मैं भी दस-बीस छात्रों को ले आऊँगा जो पड़ोस के गाँवों में रहते हैं।'

ऋषि गौतम अभी उस सयाने विद्यार्थी की ओर ताक ही रहे थे कि एक ऐंचेताने विद्यार्थी ने कहा—'गुरुदेव! जिसको अपने पिता और गोत्र का नाम भी नहीं मालूम है क्या वह भी आपके यहाँ रह सकता है?'

आगन्तुक बालक गौतम के आश्रमवासी शिष्यों की इस छींटाकशी को समझ रहा था। उनके इशारों और कानाफूसी का भाव भी समझ रहा था। पर उसका ध्यान गुरुदेव के शब्दों पर था। थोड़ी देर तक वह उसी तरह खड़ा रहा। गौतम भी उतनी देर तक जाने क्या-क्या सोचते रहे।

फिर अपने सामने वाले विद्यार्थी की ओर देखते हुए गौतम ने कहा—'वत्स! जिस छात्र का पिता नहीं है, उसका पिता गुरु है। मुझे ही उसका यज्ञोपवीत करना चाहिए। तुम जिन बालकों की चर्चा कर रहे हो यदि उनके भी पिता नहीं है तो मैं उन्हें सहर्ष आश्रम में लेने को तैयार हूँ, उनका भी यज्ञोपवीत संस्कार मुझे करना पड़ेगा। तुम उन्हें ला सकते हो।'

ऐंचेताने विद्यार्थी के स्वभाव से गौतम परिचित थे अतः उसकी बातों का जवाब देना कोई जरूरी नहीं था। फिर तो बालक की ओर दयालु भाव से देखते हुए वह बोले—'बेटा! अब तुम जाओ और अपनी माँ से अपने पिता जी का तथा अपने गोत्र का नाम पूछ कर जल्द चले आओ। तुम्हारे उपवीत संस्कार में तुम्हारे पिता और गोत्र के नाम की जरूरत पड़ेगी, इसीलिए तुम्हें यह कष्ट दे रहा हूँ; तुम कुछ दूसरा मत समझना।'

तेजस्वी बालक गुरुदेव के चरणों पर शीश रख कर तथा छात्र मंडली की ओर हाथ जोड़ कर प्रणाम करने के बाद अपने निवास स्थान की ओर रवाना हो गया। थोड़ी देर तक उसकी विनय भरी

चेष्टा ने गौतम समेत उनकी छात्र मण्डली में निस्तब्धता का वाता-वरण पैदा कर दिया। उसके जाने के थोड़ी देर बाद गौतम ने शिष्यों को सम्बोधित कर कहा—'वत्सो! किसी नये बालक के साथ तुम्हें सगे भाई सा व्यवहार करना चाहिए। देखो न, वह कितना सरल, तेजस्वी और होनहार बालक है।'

शिष्य मण्डली एकदम चुप हो गई थी।

× × ×

दूसरे दिन प्रातःकाल गौतम की शिष्य मण्डली नित्य कर्म से निवृत्त होकर गुरु के पास पाठ पढ़ने के लिए आ गई थी। गुरु उन्हें पाठ पढ़ाने आ ही रहे थे कि वह तेजस्वी बालक उसी वेश-भूषा में फिर आ गया। कल की तरह उसने फिर गुरु को दण्डवत् प्रणाम कर शिष्य मण्डली की ओर हाथ जोड़ कर अभिवादन किया। गौतम ने बैठने का आदेश देते हुए पूछा—'वत्स! अच्छा हुआ तुम आ गये। आज ही शुभ मुहूर्त में तुम्हारा उपवीत संस्कार प्रारम्भ कर देना चाहिए। अपनी माँ से पिता का नाम और गोत्र तो पूछ आए हो न?'

बालक ने खड़े होकर जवाब—दिया—'हाँ गुरुदेव! माता जी से पूछ आया हूँ। माँ ने कहा है कि मेरे पिता जी का नाम उसे भी मालूम नहीं है। वह अपनी युवावस्था में अनेक साधु-सन्तों की सेवा में लगी रहती थी, उन्हीं दिनों में उसे गर्भ भी रह गया था। जिससे गर्भाधान हुआ था उसका नाम और गोत्र मेरी माँ को भी मालूम नहीं है। उसने यह कहा है कि गुरुदेव से जाकर यह सब बातें इसी तरह कह देना। और यदि माता के नाम से उपवीत संस्कार हो सकता हो तो मेरा नाम जबाला बतला देना। बस यही उसने कहा है। अब आपकी जो आज्ञा हो।'

शिष्यों की उत्सुक मण्डली में जोर का तहलका मच गया। उस ऐंचेताने विद्यार्थी ने अपने बगल में बैठे हुए एक साथी से कहा—'मैंने तो तुरन्त ही यह अन्दाज लगा लिया था कि दाल में कुछ

काला जरूर है।' साथी ने कहा—'भाई! जो भी हो! बालक है तेजस्वी और सत्य बोलने वाला। ऐसी बात तो मैं अपने बारे में सच होने पर भी कभी नहीं कह सकता था।'

शिष्यों की ओर दृष्टि फेरते हुए गौतम ने कहा—'वत्सो! तुम्हें ऐसे सत्यनिष्ठ और निर्भीक बालक की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी चाहिए।' फिर बालक की ओर बैठने का इशारा करते हुए वह बोले—'बेटा, तुम्हारी बातें सुन कर मुझे यह निश्चय हो गया कि तुम सच्चे ब्राह्मण-कुमार हो। मैं तुम्हारा नाम सत्यकाम रखता हूँ। मैं तुम्हें शिष्य रूप में अंगीकार कर सारी विद्याएँ सिखाऊँगा। शिष्यो! इस सत्यकाम का उपवीत संस्कार आज ही प्रारम्भ होगा, तुम सब जाओ और सब सामग्री इकट्ठी करो।'

गौतम की निश्चय भरी वाणी सुन कर शिष्य मण्डली चित्र के समान ठगी-सी बैठी रह गयी। थोड़ी देर तक चुपचाप रहने के बाद काना-फूसी करते हुए वह उठे और कई झुंडों में बँट कर उपनयन संस्कार की सामग्रियाँ इकट्ठी करने के लिए इधर-उधर चले गये।

शुभ मुहूर्त में सत्यकाम का उपनयन संस्कार सम्पन्न किया गया। गौतम की पत्नी ने अपने इस प्रिय शिष्य की कटि में मुंज मेखला पहिनाई। आज से जबाला का पुत्र होने के कारण उसका नाम जाबाल भी रखा गया। इस तरह सत्यकाम जाबाल नाम से वह गौतम के गुरुकुल में विख्यात हुआ। यद्यपि बहुतेरे छात्र उसके प्रति गौतम का अटूट स्नेह देख कर मन ही मन जलते थे पर उसकी विनीत वाणी और विनम्र स्वभाव से मुख पर कुछ कहने का साहस उनमें भी नहीं होता था।

× × ×

यज्ञोपवीत के चार दिन बीत गये। पाँचवें दिन प्रातःकाल हवन कर लेने के बाद गौतम ने सत्यकाम को पास बुला कर अन्य शिष्यों को सुनाते हुए कहा—बेटा सत्यकाम! आज से तुझे एक सेवा का काम

सौंपता हूँ, उसके लिए तुझे आश्रम से बहुत दूर वन में जाना पड़ेगा।'

सत्यकाम ने हाथ जोड़ कर कहा—'गुरुदेव! मेरा आश्रम वही है, जहाँ रहने के लिए आपकी आज्ञा होगी। मुझे गुरुदेव की क्या सेवा करनी पड़ेगी?'

शिष्य मण्डली गौतम की बातें सुनने के लिए उत्सुक हो उठी। चारों ओर आँखें फेरते हुए गौतम ने कहा—'वत्स! मेरे पास इस समय चार सौ गौएँ हैं, इनको ठीक से खाने-पीने को यहाँ नहीं मिलता। बहुत-सी एकदम बुड्ढी और बेकाम भी हो गई हैं। मैं चाहता हूँ कि तुम इन सब को साथ लेकर सुदूर वन में चले जाओ और वहीं रह कर चराओ। जिस दिन इनकी संख्या चार सौ से बढ़ कर एक सहस्र की हो जायगी, उसी दिन लौट कर आने पर तुम्हारा स्वागत किया जायगा। बोलो! तुम्हें स्वीकार है न?'

सत्यकाम का हृदय प्रसन्नता से भर उठा, हाथ जोड़ कर गदगद् कण्ठ से वह बोला—'गुरुदेव! अपनी आज्ञा दे देने के बाद आप जो यह पूछते हैं कि 'स्वीकार है न?' यही मेरा अभाग्य है। आपकी आज्ञा ही मेरे जीवन का ध्येय है। मैं सहर्ष तैयार हूँ, मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।'

शिष्य मण्डली में से एक भावुक छात्र ने कहा—'गुरुजी! यह छोटा बालक बेचारा अकेले चार सौ गौओं की रखवाली किस तरह कर पाएगा? दो एक सहायक इसके साथ और भी कर दीजिए।'

सत्यकाम ने कहा—'भाई! मुझे सहायकों की जरूरत नहीं है, गुरुदेव की आज्ञा ही मेरी सहायक है।'

पहले गाय चराने वाले एक शिष्य ने अपने उस साथी से, जो सहायक की बात कर रहा था, कान में कहा—'अजी! जाने भी दो। मन्द बुद्धि मर जायगा। इतनी गौओं का सँभालना आसान काम नहीं है, अभी इसको कभी का अनुभव नहीं है कि गुरु जी की गोएँ कितना परेशान करती हैं।'

दूसरे साथी ने कहा—'भाई सत्यकाम ! यहाँ तो कह ले रहे हो मगर वहाँ जब जंगली पशु गौत्रों के ऊपर टूटेंगे तो तुम अकेले क्या कर सकोगे ?'

सत्यकाम ने कहा—'गुरुदेव का आशीर्वाद उन हिंसक जंगली पशुओं को भी मार कर भगा देगा। मुझे उनका तनिक भी भय नहीं है।'

गौतम की शिष्य मण्डली के सब विद्यार्थी एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। किसी में अब इतनी ताब नहीं रही जो सत्यकाम का परिहास कर सकता। गौतम ने उसका शिर सहलाते हुए कहा—'बेटा ! तेरे साहस और उत्साह की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। तुझे संसार में कोई भी कठिन काम न होगा। हिमालय का दुर्गम शिखर और अतल समुद्र की भीषण लहरें भी तुम्हारे मार्ग में बाधा नहीं डाल सकतीं, वन्य हिंसक पशुओं की क्या शक्ति है ?'

सभी लोग चुप थे। गौतम ने छाती से लगा कर सत्यकाम को आशीर्वाद दिया। वह गौओं के साथ वन में जाने के लिए तैयार हो गया। गुरुदेव के चरणों की धूल को ललाट में लगाकर उसने शिष्य मण्डली का अभिवादन किया। सब लोग ताकते रह गये। तेजस्वी सत्यकाम ने गोशाला की ओर जाते हुए गुरुपत्नी को भी प्रणाम किया और विधिवत् आशीर्वाद ग्रहण कर जंगल की ओर प्रस्थान किया। उसके हाथ में एक लाठी थी, कंधे पर मृगचर्म तथा कमण्डल और पीठ पर गुरुपत्नी के दिये हुए पथ के लिए कुछ उपहारों की एक गठरी, जो लटक रही थी और उसके साथ चल रही थीं चार सौ दुर्बल गौएँ।

गौओं को साथ लेकर सत्यकाम ने ऐसे सुन्दर वन का मार्ग पकड़ा, जिसमें गौओं के लिए चारा, जल और छाया की अनेक सुविधाएँ थीं। कभी वह आगे-आगे चलता और कभी पीछे-पीछे। किसी गाय की पीठ पर थपकियाँ देता और किसी का मुख चूमता। छोटे-छोटे बछड़ों के साथ उसका भाई जैसा स्नेह हो गया। मार्ग में जिधर वह

चलता उसी ओर सारा का सारा झुण्ड उमड़ पड़ता। इस प्रकार चलते-चलते उस सुन्दर, सघन, हरे-भरे प्रदेश में वह पहुँच गया, जिसकी लालसा में आश्रम से चला था। वहाँ पहुँच कर उसने देखा कि कोसों तक एक सपाट मैदान है, जिसमें लम्बी-लम्बी घासें उगी हुई हैं, सघन छायादार वृक्षों की कतारें हैं, छहों ऋतुओं में निर्मल जल से भरी रहने वाली कई पवित्र बावलियाँ हैं। न वहाँ बहुत ठंढक पड़ती है न भीषण गर्मी। दूर से ही शीतल, मंद, सुगन्धित पवन के शांतिदायी झँकोर गौओं समेत उसका स्वागत करते हुए मानों बुला रहे थे। उस सुन्दर वन्य प्रान्त में पहुँच कर सत्यकाम ने गौओं को रुकने की आवाज दी और स्वयं अपने लिए एक छोटी-सी झोपड़ी के प्रबन्ध में लग गया। झोपड़ी को तैयार कर वह तन मन से गुरु की आज्ञा में लग गया। रात दिन गो-चारण के सिवा वहाँ उसके लिए दूसरा काम ही क्या था? आस-पास के रमणीय सृष्टि-सौन्दर्य में वह इतना तन्मय हो उठा, गौओं की स्नेह भावना में इस प्रकार लीन हो उठा कि कभी एक क्षण के लिए भी उसे अपने अकेलेपन का स्मरण नहीं हुआ। एक-एक कर दिन पर दिन बीतते चले गये। वन की स्वच्छन्द प्राकृतिक सुविधाओं में पल कर गौओं की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। जो आश्रम से आने पर निरी बछियाँ थीं वे तीन ही चार वर्षों में दो-दो तीन-तीन बछड़ों की माँ बन गयीं। बुड्ढी गौएँ भी जवान को मात करने लगीं। इस प्रकार सत्यकाम का वह आश्रम एक गुरुकुल ही हो चला। गौओं के छोटे-छोटे बछड़े उसको आगे-पीछे से घेर कर कूदते-फाँदते निकल जाते। उनको सत्यकाम विविध नामों से जब जब पुकारता तो भीड़ में से उछलते हुए उसके ऊपर चढ़ने को वह आतुर हो उठते। वह उनका कभी तो मुख चूमता और कभी मीठी थपकियाँ और थपेड़े देकर कोई उलाहना देता। यदि संयोग से कोई गाय बीमार हो जाती तो वह तन मन से उनकी सेवा में जुट जाता, जब तक वह अच्छी न होती तब तक

अन्न-जल भी न ग्रहण करता। बड़े-बड़े बलवान् गजराज की तरह ऊँचे बैलों की भीड़ देख कर सत्यकाम के हर्ष का वारापार न रहता। इस तरह उसके चार-पाँच वर्ष बीत गये। चार सौ गौओं की संख्या सत्यकाम के अनजाने में ही सहस्र से अधिक हो चुकी थी, पर उसे इसका पता नहीं था। वह कभी इनको गिनता तो था नहीं, जो तुरन्त ध्यान जाता, क्योंकि उस अपार सन्तोष और शांति में वह अपना जीवन चला रहा था, जिसमें मनुष्य का ध्यान हिसाब-किताब भूल कर केवल काम पर रहता है।

एक दिन प्रातःकाल सत्यकाम सूर्य को अर्घ्य दे रहा था कि पीछे खड़ी हुई बैलों की भीड़ में से मनुष्य की-सी आवाज आयी—"सत्य-काम!" सत्यकाम के लिए उस निर्जन वन में ऐसा मानव-स्वर चार-पाँच वर्षों से अपरिचित हो चला था। आवाज सुनते ही उसका ध्यान बँट गया। पीछे देखा तो एक बलवान् ऊँचा वृषभ आगे बढ़ कर उसकी ओर ताक रहा है। सत्यकाम ने कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?'

वृषभ ने कहा—'वत्स! अब हमारी संख्या सहस्र से ऊपर हो रही है। अब हमें आचार्य के पास ले चलो। अपनी अटूट सेवा से तुम ब्रह्मज्ञान के अधिकारी बन चुके हो। मेरी ओर देखो, मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान के एक पाद (अंश) का उपदेश कर रहा हूँ!'

सत्यकाम ने हाथ जोड़ कर आदरपूर्वक कहा—'भगवन्! आपके उपदेश को प्राप्त कर मेरा जीवन सुफल हो जायगा।'

× × ×

वृषभ ने सत्यकाम को ब्रह्मज्ञान के एक अंश का उपदेश देने के बाद कहा—'वत्स! इस अंश का नाम प्रकाशवान् है। अगला उपदेश तुम्हें स्वयं अग्निदेव करेंगे।' इतना कहने के बाद वृषभ का मानवीय स्वर बन्द हो गया और वह साधारण वृषभ की भाँति भीड़ में जाकर जुगाली करने लगा।

ब्रह्मज्ञान के एक अंश को ग्रहण करने के बाद सत्यकाम का ललाट तेज की अधिकता से दीप्तमान हो उठा, हृदय में शान्ति छा गयी और मन एक अलौकिक सन्तोष से भर गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम गौओं को लेकर गुरुकुल की ओर जब रवाना होने लगा, तब वहाँ के पशु-पक्षी तथा लता-गुल्म तक उदास हो गये। रास्ते में उसने पहली रात बिताने के खयाल से सूर्यास्त के समय एक सुरम्य प्रदेश में डेरा डाल दिया और गौओं के शान्तिपूर्वक बैठ जाने के बाद अग्नि में हवन करने बैठ गया। पहली आहुति डालते ही यज्ञाग्नि की ज्वाला से अग्नि नारायण प्रकट हुए और बोले—'वत्स सत्यकाम!'

सत्यकाम ने हाथ जोड़ कर गद्गद स्वर में कहा— 'भगवन्! क्या आज्ञा है?'

अग्नि नारायण ने कहा—'सौम्य! तुम ब्रह्मज्ञान के पूर्ण अधिकारी हो चुके हो, मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान के द्वितीय पाद का उपदेश करूँगा। इसका नाम अनन्तवान् है, अगला उपदेश तुम्हें हंस करेगा।'

सत्यकाम ने कहा—'भगवन्! आपके उपदेश से मेरा जीवन धन्य हो जायगा।'

× × ×

अग्नि नारायण सत्यकाम को ब्रह्मज्ञान के द्वितीय अंश का उपदेश कर वहीं अन्तर्हित हो गये। सत्यकाम की लौकिक कामनाएँ अग्नि नारायण के उपदेश से विलीन हो गयीं। रात भर वह उसी उपदेश का मनन करता रहा। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही गौओं को साथ लेकर वह आगे बढ़ा और संध्या समय एक सुन्दर सरोवर के सुरम्य तट पर ठहर गया। गौओं के लिए निवास की व्यवस्था करने के बाद वह पिछले दिन की तरह यज्ञाग्नि को जला कर साधना में लीन हो गया। इतने ही में पूर्व दिशा से एक सुन्दर हंस ऊपर से उड़ता हुआ आया और सत्यकाम के समीप बैठ कर बोला—'सत्यकाम!'

सत्यकाम की समाधि भंग हुई। हाथ जोड़ कर गद्गद स्वर में विनीत भाव से वह बोला—'भगवन्!' क्या आज्ञा है?

हंस ने पंख को फड़फड़ाते हुए कहा—'वत्स सत्यकाम! तुम्हारी

साधना से प्रसन्न होकर मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान के तृतीय पाद का उपदेश करने के लिए आया हूँ। इसका नाम ज्योतिष्मान् है, इसके बाद का उपदेश तुम्हें एक जलकुक्कुट करेगा।'

सत्यकाम धन्य हो गया। बोला—'भगवन्! आपके उपदेश रूपी अमृत को पान कर मेरी जीवन-बाधा छूट जायगी।'

× × ×

हंस सत्यकाम को ब्रह्मज्ञान के ज्योषिमान् अंश का उपदेश कर वहीं अन्तर्धान हो गया। सत्यकाम अब सचमुच ज्योतिष्मान् हो गया। तेज की अनुपम आभा से उसके शरीर की कान्ति और भी झलकने लगी। रात भर वह ज्योतिष्मान् ब्रह्म की आराधना में लीन रहा और दूसरे दिन प्रातःकाल गौओं को हाँक कर गुरुकुल के मार्ग पर आगे चला। सन्ध्या आयी और एक विशाल वट वृक्ष के नीचे गौओं के विश्राम की व्यवस्था कर सत्यकाम समीप की बावली में सन्ध्या वन्दन के लिए चला गया। प्रतिदिन की भाँति हवन के लिए अग्नि जलाने के बाद आहुति डालते समय सत्यकाम के सामने एक जलमुर्गी आकर खड़ी हो गई और प्यार भरे स्वर में बोली—'वत्स सत्यकाम!

सत्यकाम उठ कर खड़ा हो गया। और हाथ जोड़ कर विनीत स्वर में बोला—'भगवति! क्या आज्ञा है?'

जलमुर्गी सत्यकाम को बैठने का आदेश करती हुई बोली—'वत्स! तुम्हारी साधना अब पूरी हो गई है। ब्रह्मज्ञान के तुम अधिकारी बन चुके हो। इसीलिए तुम्हें वृषभ रूपधारी वायु ने, साक्षात् अग्निदेव ने तथा हंस रूपधारी सूर्य ने ब्रह्मज्ञान के तीन चरणों का उपदेश किया है। अब मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान के अन्तिम चतुर्थ पाद का उपदेश करूँगी। इसका नाम आयतनवान् है। इसे सीखने के अनन्तर तुम ब्रह्मज्ञान के पूर्ण पण्डित बन जाओगे।

सत्यकाम सुनने के लिए सावधान हो गया। जलमुर्गी उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश कर उड़ गयी। सत्यकाम रात भर पाठ के मनन में

लीन रहा। दूसरे दिन प्रातःकाल गौओं को साथ लेकर वह गुरु के आश्रम की ओर चल पड़ा और सायंकाल होने में अभी कुछ देर ही थी कि पहुँच भी गया। आश्रम में गौओं की लंबी भीड़ देख कर गौतम का हृदय प्रसन्नता से भर उठा। उन्हें गौओं की संख्यावृद्धि से अधिक सुख सत्यकाम की सफलता से मिल रहा था।

सत्यकाम ने जाकर गुरु के चरणों में सादर प्रणाम किया। गुरु-पत्नी के चरण छुए और गौओं को गोशाला की ओर करके स्वयं गुरु के पास खड़ा हो गया। इसी बीच आश्रम की शिष्यमंडली में सत्य-काम के वन से वापस आने की चर्चा पहुँच गयी। जो जहाँ रहे वहीं से उसे देखने के लिए दौड़ पड़े। चारों ओर से शिष्यों की भारी भीड़ गौतम और सत्यकाम को घेर कर खड़ी हो गयी। लोगों ने देखा कि सत्यकाम अब वह बालक सत्यकाम नहीं रह गया है। इन चार वर्षों के बीच में उसका तेजस्वी शरीर ब्रह्मवर्चस् की अनुपम आभा से देदीप्त हो उठा है, आँखों में बिजली की-सी चमक आ गई है, ललाट पर चन्द्रमा सी मनोहर आभा है और सभी वाह्य इन्द्रियों से मानसिक प्रसन्नता के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। उसका सुन्दर मुख सूर्य के समान तेजोमय किन्तु कमल के समान मनोहर लग रहा है। इतने थोड़े समय में गौओं की संख्या-वृद्धि करके उसकी सेवा, धीरता, सत्यनिष्ठा और लगन ने सब को मोह लिया। गौतम ने बैठने की आज्ञा देते हुए सत्य-काम से कहा—'वत्स! तुम्हारे चेहरे की शान्ति और शरीर की कान्ति से मुझे यह निश्चय हो रहा है कि तुम केवल हमारे कोरे सत्यकाम ही नहीं रह गए हो वरन् सेवावृत्ति से ब्रह्मतेज का अंश भी तुम में आ गया है। क्या वन में किसी गुरुचरण की कृपा तुम पर हो गई थी?'

सत्यकाम ने कहा—'गुरुदेव! मुझे मार्ग में ऐसे चार दिव्य प्राणियों ने ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है जो आपही की भाँति एक एक से बढ़कर तेजस्वी मालूम पड़ते थे।'

गुरु के पूछने पर सत्यकाम ने मार्ग की सारी बातें गौतम को

बतला दीं। गौतम ने सम्मान भरे स्वर में कहा—'वत्स! तुम्हारी सत्य की साधना ने ही तुम्हें आज सफलता के द्वार पर ला पहुँचाया है। तुम धन्य हो। तुम्हारे जैसे पुत्ररत्नों को पाकर ही पृथ्वी का भार कम हो सकता है। तात! अपने अध्यापन जीवन में मैंने तुम्हारे समान सत्यनिष्ठ, सच्चरित और धैर्यशील छात्र को कभी नहीं पाया था। तुम्हारी सेवाभावना और ज्ञान की प्यास की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।'

सत्यकाम गुरु गौतम के अमृतवर्षी प्रशंसात्मक वाक्यों को सुन कर कृतज्ञता के बोझ से दबने-सा लगा। उसे बोध हुआ कि हमारे गुरुदेव कितने दयालु और महात्मा हैं। हाथ जोड़कर उसने कहा—'गुरुदेव! आपके आशीर्वाद और सत्कामना ही का तो फल मुझे मिला है, अन्यथा मेरी योग्यता ही क्या है? आप जैसे गुरु के समीप में रह कर यदि मैंने कुछ सीख लिया है तो उसमें मेरा क्या है? ब्रह्मज्ञान के चारों अंशों का उपदेश यद्यपि मैंने भली भाँति ग्रहण कर लिया है, पर आपकी दी हुई विद्या से ही उसकी सफलता मुझे मिलेगी। मैं चाहता हूँ कि आप मुझे उनका पुनः यथेष्ट उपदेश कीजिए। आपके उपदेशों के बिना मुझे पूर्ण शान्ति नहीं मिल रही है।'

इस प्रकार विनीत सत्यकाम के अनुरोध पर गौतम ने उससे कहा—'वत्स। ब्रह्मविद्या का जितना उपदेश तुमने प्राप्त किया है, वही उसका परम तत्व है। अब तुम्हारे लिए इस चराचर जगत् में कोई भी वस्तु अज्ञेय नहीं है। यह सब तुम्हारी गो-सेवा का महान् पुण्य फल है। उसके प्रसाद से ही तुम्हें यह सिद्धि प्राप्त हुई है।'

सत्यकाम ने गुरु के चरणों पर मस्तक रख कर गद्गद स्वर में कहा—'किन्तु गुरुदेव! उस गो-सेवा का अवसर देने वाली तो आप की महान् कृपा ही है न!'[1]

[1] छान्दोग्य उपनिषद् से।

उषस्ति की कठिनाई

[४]

हस्तिनापुर से लेकर पंजाब के पूर्वी भाग का नाम प्राचीन काल में कुरु प्रदेश था। यहीं पर राजा कुरु का वह क्षेत्र भी था जहाँ कौरवों और पाण्डवों के बीच में होने वाले महाभारत का युद्ध हुआ था। यहाँ पर बहुधा पानी कम बरसता है। संयोग की बात, एक बार उसी कुरु प्रदेश में भीषण वृष्टि हुई। दस-बारह दिनों तक लगातार वृष्टि होती रही और एक घण्टे के लिए भी बूदाबाँदी बन्द नहीं हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि सारा देश चौपट हो गया। लाखों जानें चली गयीं, हजारों मकान नदियों की धारा में बह गये, सैकड़ों गाँवों का कहीं कोई पता ही नहीं रह गया। सारी फसल चौपट हो गयी, जो कुछ अन्न गृहस्थों के घर में था वह सब भी इस बाढ़ में नष्ट हो गया और सारा देश अकाल से ग्रस्त हो गया। लोग फूटे अन्न के लिए तरसने लगे। उस समय रेल-तार की सुविधा तो थी नहीं, जो बाहर से कुछ सहायता पहुँचाई जाती, सारे देश के लोग भोजन की खोज में बाहर चले गये और जो अपाहिज थे, चल फिर नहीं सकते थे, वे मृत्यु के कराल गाल में चल बसे।

उसी कुरु प्रदेश में सरस्वती नदी के पवित्र तट पर एक विद्वान् ब्राह्मण चक्र का निवास स्थान था। वह अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् माने जाते थे। दूर-दूर से सैकड़ों विद्यार्थी आ-आ कर उनके गुरुकुल में अध्ययन करते थे। चक्र की मृत्यु के बाद उनके पुत्र उषस्ति गुरुकुल का काम चलाने लगे। वह भी चक्र की तरह बहुत बड़े विद्वान् थे। उस भीषण बाढ़ में नदी तट पर होने के कारण जब आश्रम का कोई पता नहीं रहा और सब शिष्य मण्डली भी आहार

की कमी से पढ़ाई छोड़ कर चली गयी तब उषस्ति भी अपनी नव पत्नी आटिकी को साथ लेकर आहार की चिन्ता में बाहर निकले। आटिकी का ब्याह हुए अभी थोड़े ही दिन बीते थे, वह अभी इतनी सयानी नहीं हुई थी कि मार्ग की कठिनाइयों का सामना कर सके। इसलिए उषस्ति के साथ पैदल चलते-चलते उसके पैर सूज आये, तलुवों में छाले पड़ गए और सारा शरीर थकान से चूर-चूर हो गया। ऊपर से प्रचंड धूप की ज्वाला में उसकी आँखें अन्न के एक-एक कण के लिए भी लालायित थीं। उषस्ति जैसे विद्वान् को देश में या परदेश में जो इतनी कठिनाई उठानी पड़ी उसका कारण भीषण दुष्काल था। जब किसी के पास अपने ही खाने भर का अन्न नहीं था तो अतिथि, गुरु, पुरोहित की चिन्ता कैसे की जाती। आहार की खोज में वह इतने परेशान हुए कि जिन्दगी में इसका कभी अन्दाजा भी नहीं हुआ था। जिनके हाथ बड़े-बड़े राजाओं के यहाँ कभी हीरे-जवाहर के लिए भी नहीं खुले थे वही मार्ग में एक मुट्ठी अन्न के लिए इधर-उधर बीसों जगह शिर मार कर रह गये पर कहीं भी सफलता नहीं मिली। अन्त में आटिकी एक जगह हताश होकर प्राण त्यागने पर उतारू हो गयी। उषस्ति का हृदय विधि की इस विडम्बना पर विद्रोही हो उठा कि जो कभी सैकड़ों विद्यार्थियों का पोषक था वही आज एक मुट्ठी अन्न के लिए अपनी स्त्री की मृत्यु देख रहा है। थोड़ी देर तक दोनों प्राणी एक वृक्ष की छाया में इधर-उधर देखते हुए बैठे रहे। संयोग अच्छा था। पूर्व देश के पाँच-छः पथिक जिनके पास कुछ अन्न शेष बच गया था। उसी मार्ग से कहीं जा रहे थे, आटिकी की विपदा उनसे सही नहीं गयी। अगले दिन की कोई चिन्ता न करके एक दयालु पथिक ने आटिकी के लिए अपना बचा-खुचा अन्न दे दिया। उसे खाकर आटिकी की म्रियमाण जीवन-ज्योति कुछ देर के लिए टिमटिमाने लगी। तदनन्तर उषस्ति ने प्रोत्साहन देते हुए परिहास के स्वर में उससे कहा—'प्रिये! अभी विधि को हम लोगों

की जोड़ी कुछ दिनों तक कायम रखनी है। चलो आगे बढ़ें! सुनने में आ रहा है कि उधर कोशल प्रदेश में इतना अकाल नहीं पड़ा है, वहाँ खाने भर का भोजन तो आसानी से मिल जाता है। तो फिर हम ब्राह्मणों को खाने-पीने की वहाँ कोई कमी नहीं पड़ेगी, केवल पहुँचने भर की देर है।' आटिकी उठ बैठी, और पति के पीछे-पीछे धीरे-धीरे चलने लगी। दस-बारह दिनों से उषस्ति को भी अन्न देवता के दर्शन दुर्लभ हो गए थे। पेड़ की पत्तियों को खा-खाकर कब तक चल सकते थे। उसी दिन सन्ध्या होते होते उनके साहस ने भी जवाब दे दिया। ब्रह्मचर्य के कारण तेजस्वी शरीर ने इतने दिनों तक साथ दिया पर ईंधन के अभाव में आग कब तक जलती रहे। उनके भी पैर लड़खड़ाने लगे, कमजोरी के कारण आँखों में बार-बार आँसू आने लगे, पेट में आँतें एक दूसरे से चिमट कर सूख-सी गयीं। गला भी सूख गया और हड्डियों में दर्द होने लगा। अब तक जो मार्ग मनोहर कथाओं के कहने-सुनने में कट रहा था वह अशक्ति के कारण बोलना बन्द कर देने से एकदम दुर्वह बन गया। आटिकी अपने प्राणपति की इस दुर्दशा को अपनी आँखों से देख रही थी, पर क्या करती?

सन्ध्या हो गयी। सूर्य की किरणें वृक्षों की चोटियों पर अपनी आखिरी शक्ति का परिचय करने लगीं। मध्याह्न का तेजस्वी भास्कर आग के एक निर्धूम गोले के समान पश्चिम के क्षितिज पर दिखाई पड़ने लगा। यह बेला उषस्ति के सन्ध्या-वन्दन की थी। पर आज उन्हें यह मालूम हुआ मानों सूर्य के समान उनके जीवन सूर्य का भी सदा के लिए अवसान होने वाला है। एक जलाशय के समीप पहुँच कर उषस्ति ने आटिकी से कहा—'प्रिये! थोड़ी देर के लिए रुक जाओ, सन्ध्यावन्दन तो कर लूँ। कौन जाने कल का सूर्य मुझे न मिले।' आखिरी बातें करते समय उषस्ति का मुरझाया मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा। तरल आँखों से मोती की दो बूँदें बाहर निकल कर धारा बनाने लगीं।

आटिकी ने अपने कमल के समान कोमल हाथों से पति के आँसू

को पोंछते हुए कहा—'प्राणनाथ ! ऐसा क्यों कहते हो ? दोपहर को तो तुमने कहा था कि अभी हमारी जोड़ी बहुत दिनों तक बनी रहेगी सो अभी क्यों ऐसी बात जबान पर लाते हो। मेरा मन कह रहा है कि आगे वाले गाँव में तुम्हें कुछ खाने को अवश्य मिलेगा !'

उषस्ति के सूखते प्राणों में आटिकी की उत्साह-रस से भरी बातों ने थोड़ा-सा जीवन डाल दिया। निराशा के घने बादल जो उसके साहसी हृदय को भी छेंक चुके थे, इन उत्साहपूर्ण बातों से कुछ क्षण के लिए दूर हो गये। जलाशय में किसी तरह उतर कर उसने सन्ध्या की और फिर हरि का स्मरण करते हुए आगे का मार्ग पकड़ा।

अगले गाँव में पहुँचते-पहुँचते उषस्ति को काफी रात बीत चुकी थी। अकाल का प्रभाव इस गाँव में भी था। गाँव भर में केवल महावतों की बस्ती थी जो बहुत गरीबी के दिन बिताते थे। यहाँ तक किसी तरह पहुँच कर उषस्ति की कृत्रिम संजीवनी शक्ति समाप्त होने पर आ गयी। आगे की एक-एक पग भूमि उन्हें योजनों से भी बढ़ कर दूर मालूम होने लगी। आखिरकार दोनों पति-पत्नी ने इसी गाँव में रात काटने की बात तय कर ली और गाँव में जो सब से अधिक सम्पन्न महावत था उसके द्वार पर जाकर पड़ाव डाल दिया।

धनी महावत उस समय भोजन कर रहा था, भोजन भी कोई दूसरा नहीं था। तीन चार दिनों के बाद वह भी कहीं से माँग-जाँच कर उड़द ले आया था और उसी को पकाया था। उस समय उसकी थाली में बहुत थोड़ा उड़द बच रहा था। उषस्ति ने जब देखा कि महावत उड़द खा रहा है तो उन्हें यह निश्चय हो गया कि इसके घर में कोई दूसरा अन्न शेष नहीं है, क्योंकि केवल उड़द का खाना कौन पसन्द करेगा ? उधर रात में आगन्तुकों को द्वार पर देख कर महावत ने खाना बन्द कर दिया था। वह जब तक यह सोच रहा था कि आज मेरे आतिथ्य धर्म का पालन किस प्रकार होगा, तब तक उषस्ति ने समीप जाकर कहा—'भाई ! मुझे भी खाने को दो, आज दस-बारह

दिनों से खाने को कुछ भी नहीं मिला है। मुझमें अधिक बोलने की हिम्मत बाकी नहीं है!'

महावत को काटो तो खून नहीं। जीवन में इस स्थिति का सामना उसे कभी नहीं पड़ा था। थोड़ी देर तक जाने क्या सोचता रहा, फिर उठ कर खड़ा हो गया और हाथ जोड़ कर बोला—'महाराज! आज कई दिनों से मेरे घर में खाने-पीने को कुछ भी नहीं था, आज बहुत कठिनाई से यह उड़द मिला था, उसी को पका कर खा रहा हूँ, आधे से अधिक खा भी चुका हूँ। मेरे घर में अब अन्न का एक टुकड़ा भी नहीं है, ऐसी दशा में मैं क्या करूँ? मेरे गाँव भर में ऐसा कोई पड़ोसी नहीं है जो कुछ सहायता कर सके। मेरी असमर्थता पर दया करें।'

उषस्ति के प्राण ओठों पर थे। आँखों में क्षुधाग्नि की ज्वाला जल रही थी। यदि भोजन न मिलता तो एकाध घंटे में ही मूर्च्छा आ जाती। वह झट बोल पड़े—'सौम्य! मेरी दशा अब ऐसी नहीं है जो कुछ देर के लिये भी धैर्य धारण कर सकूँ। तुम अपना जूठा उड़द ही मुझे दे दो। उसमें तुम्हें कोई दोष नहीं होगा।'

महावत बेचारा बड़े असमंजस में पड़ गया। विनीत स्वर में हाथ जोड़ कर बोला—'महाराज! मैं नीच व्यवसाय करने वाला हूँ। आप एक सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण जैसे दिखाई पड़ रहे हैं। अपना जूठा अन्न मैं आपको किस प्रकार खिला सकता हूँ? जो लोग मेरा यह पाप कर्म सुनेंगे वे मुझे क्या कहेंगे? आप थोड़ी देर के लिए रुक जाइये। मैं यहाँ से दो कोस की दूरी पर रहने वाले अपने एक मित्र के पास जाकर कुछ भोजन सामग्री लाने की भरसक कोशिश करूँगा। पाप-पंक में फँसाकर मेरे दोनों लोकों को व्यर्थ न कीजिए।'

उषस्ति को महावत की यह विनीत बातें तीखे बाणों की तरह दुःखदायी लग रही थीं। उनका आतुर मन थाली में बचे हुए उड़द की ओर था और चिर संचित ज्ञान, धैर्य तथा विवेक एकमत होकर आकुल प्राणों की रक्षा में लगे थे! वह झल्ला उठे और कुछ कठोर

स्वर में बोले—'भाई! मुझे धर्मशास्त्र की शिक्षा न दो। मनुष्य का सबसे प्रधान धर्म है प्राणों की रक्षा। मुझमें अब थोड़ी देर के लिये भी भोजन की प्रतीक्षा करने की ताब नहीं है। तुम्हें कोई भी पाप नहीं लगेगा, वरन् एक जीवन-दान करने का महान् पुण्य मिलेगा।'

महावत आगे क्या बोलता? चुपचाप हाथ मुँह बिना धोये ही उसने अपनी थाली और जल समेत लोटे को उषस्ति के सामने रख दिया। जीवन के इस कठोर सत्य को निर्निमेष नेत्रों से वह देखने लगा और इधर देखते ही देखते उषस्ति ने थाली के उड़द में से थोड़ा-सा अगली बार के लिए छोड़ कर सब सफाचट कर दिया। आटिकी पहले ही इतना भोजन पा चुकी थी जो कम से कम चौबीस घन्टे तक जीवन रक्षा करने में समर्थ था। उड़द खा चुकने पर उषस्ति ने महावत से जल माँगा। महावत ने कहा—'महाराज! उसी लोटे में जल भी है। इस पर उषस्ति ने कहा—' भाई! मैं तुम्हारा जूठा जल नहीं पी सकता, क्योंकि ऐसा करने पर मुझे पाप लगेगा और तुम्हारा भी धर्म नष्ट हो जायगा।'

महावत विस्मय में डूबने-उतराने लगा। वह सोचने लगा कि यह ब्राह्मण अजीब सनकी मालूम पड़ रहा है। जूठे उड़द के खाने में इसको पाप नहीं लगा और जूठे पानी के पीने में पाप लगेगा और उल्टे मेरा धर्म भी नष्ट हो जायगा। वह चुप नहीं रह सका। विनीत स्वर में बोला—'महाराज! आपने मेरे जूठे उड़द तो खा लिये पर पानी पीने में क्या हरज है?'

उषस्ति के निर्जीव शरीर में अन्न ने कुछ चेतना पहुँचा दी थी। हाथ की अँगुलियों को चाटते हुये वह बोले—'भाई! यदि मैं तुम्हारे जूठे उड़द को न खाता तो थोड़ी देर में मेरे प्राण पक्षी उड़ जाते। किन्तु जल के बिना तो मेरे प्राण रह सकते हैं, उसका कहीं भी अभाव नहीं है। प्राणों को संकट में समझ कर ही तुम्हारा जूठा उड़द मैंने खाया है, जल तो कहीं भी पी सकता हूँ। यदि उड़द की तरह तुम्हारे

जूठे जल को भी मैं पी लूँ तो वह स्वेच्छाचार होगा, आपद्धर्म नहीं। आपद्धर्म उस धर्म को कहते हैं जो प्राणों के बचने का कोई उपाय न रहने पर किया जाता है। उस दशा में अगर धर्म की मर्यादा कुछ टूट भी जाती है तो दोष नहीं लगता।'

उषस्ति की बातें महावत के मन में सटीक बैठ गयीं। उसने झट-पट हाथ मुँह धोकर लोटे को साफ कर जल दिया। उषस्ति भी हाथ मुँह धोकर निवृत्ति हुये। वह रात उन्होंने महावत के घर पर ही बिताई रात भर अनेक पुरानी कथाओं को सुन कर महावत धन्य हो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर उषस्ति ने प्रातः कर्म से निवृत होकर आगे का मार्ग पकड़ा। भक्त महावत ने बहुत दूर तक पहुँचा कर सन्तुष्ट उषस्ति का मंगल आशीर्वाद ग्रहण किया। आगे-आगे उषस्ति और पीछे-पीछे आटकी अनेक तरह की बातें करते हुये मार्ग पर बढ़ने लगे। धीरे-धीरे दोपहर का समय समीप आया। एक सुन्दर सरोवर के मनोहर तट पर दोनों प्राणी बैठ गये। तटवर्ती विशाल वट वृक्ष की सुखद छाया में लेट कर उषस्ति की आँखें झँप गयीं। आटिकी भी थकान में चूर होकर उसी वट वृक्ष के ऊपर निकली हुई एक मोटी जड़ पर शिर लटका कर उँघग गयी। और उसकी भी आँखें आलस की गोद में थोड़ी देर के लिये मुँद गयी।

मध्याह्न हो गया। पक्षी गण धूप को सहन न कर सकने के कारण वट वृक्ष पर आ-आकर जमा होने लगे। समीपवाले गाँव के चरवाहे अपने-अपने पशु लेकर सरोवर में नहाने लगे। गाँव की स्त्रियों का समूह उसी वट वृक्ष के नीचे आकर जमा होने लगा, क्योंकि उनका वही घाट था। इसी बीच आटिकी की आखें खुल गयीं, सामने खड़ी हुई स्त्रियों को देख कर वह उठ बैठी और सकुचाते हुए एक वृद्धा को सम्बोधित कर बोली—'माता जी! बैठिये। मेरी आखें झँप गई थीं, थकान के कारण शरीर एकदम चूर-चूर हो गया है। आप लोग देर से यहाँ आई हैं क्या?

एक नवयुवती ने मुसकराते हुये कहा—'बहिन ! आप कहीं बहुत दूर से आ रही हैं क्या ? आप को देखने ही से ऐसा मालूम हो रहा है कि बहुत थक गई हैं। हम लोगों ने अभी-अभी आकर आपकी नींद में बाधा डाल दी।'

आटिकी सहमते हुये बोली—'नहीं बहिन ! इसमें बाधा डालने की क्या बात है ? मैं इधर पश्चिम के देश से आ रही हूँ। कई दिन चलते-चलते बीत गये। हमारे देश में बड़े जोरों का अकाल पड़ गया है, बाढ़ में सब कुछ नाश हो गया।'

वृद्धा ने उषस्ति की ओर संकेत करते हुये कहा—'बेटी ! वह तुम्हारे पतिदेव हैं ? देखने में तो बहुत बड़े पंडित से लगते हैं।'

आटिकी थोड़ी देर तक चुप रही, फिर बाद में सिर नीचे कर बोली 'हाँ' उनकी पाठशाला में सैकड़ों विद्यार्थी पढ़ते थे। एक समय था, जब सब विद्यार्थियों के अन्न-वस्त्र की व्यवस्था की जाती थी, अब अपने ही लिये एक मुट्ठी अन्न नहीं मिल रहा है। सरस्वती की बाढ में आश्रम और गुरुकुल सब विनाश हो गया। दाने-दाने को लाले पड़ गये हैं।'

स्त्रियाँ बैठ गयीं। आटकी की मधुर बातों ने उन्हें मोल ले लिया। फिर तो आटिकी के साथ उनकी अनेक तरह की बातें होने लगीं। थोड़ी ही देर में पिता के घर से लेकर यहाँ आने के पहले तक का उसका सारा वृत्तान्त उन्हें मालूम हो गया। आटिकी को भी यह बता दिया गया कि वह गाँव भी अकाल की छाया से अछूता नहीं बचा है, गाँव के प्रायः सारे पुरुष दूर परदेश में चले गये हैं और वहीं से महीने पन्द्रह दिन का भोजन लेकर आते हैं और देकर फिर चले जाते हैं। पूरे गाँव में स्त्रियों और बच्चों को छोड़ कर सयाना कोई नहीं है। चारे के अभाव में कितने पशु-पक्षी भी मर गये हैं।

इसी बीच में उषस्ति बरगद की छाया में से छन कर आने वाली सूर्य की किरणों से जाग पड़े और आँखें मींचते हुए उठ बैठे। उन्हें

जगा देख कर स्त्रियाँ भी उठ कर नहाने के लिए जाने लगीं। जाते हुए बूढ़ी स्त्री ने कहा—'बेटी! अपने पति से कहो कि यहाँ से दस कोस की दूरी पर एक राजा बहुत बड़ा यज्ञ कर रहा है। उसमें बहुत बड़े-बड़े पंडित बुलाए गए हैं। उन्हें दक्षिणा भी खूब दी जायगी। वहाँ जाने से भोजन-वस्त्र की कोई चिन्ता नहीं रहेगी। इतने बड़े विद्वान् को पाकर वह बहुत सम्मान करेगा। मेरा बेटा भी वहाँ गया हुआ है।'

उषस्ति भी वहाँ की बातें सुन रहा था। आटिकी ने उठ कर स्त्रियों को बिदा किया और फिर पति के समीप आकर उससे राजा के यज्ञ का हाल बतलाया।

उषस्ति ने जँभाई लेते हुए कहा—'प्रिये! मैं भी उस बूढ़ी की बातें सुन रहा था किन्तु इस समय भूख इतनी जबरदस्त लग गई है कि कोस भर चलने की भी हिम्मत नहीं है। यहाँ सुस्ता लेने के कारण वह और भी जाग पड़ी है। अभी चलना दस कोस है।' आटिकी बैठ गयी और गठरी में बँधे हुए पिछले दिन के बचे उड़द को देती हुई बोली—'प्राणनाथ! यह उड़द अभी शेष है। इसे खाकर पानी पी लिया जाय। कुछ दूर चलने की शक्ति आ जायगी।'

उषस्ति बहुत प्रसन्न हुए। बोले—'फिर तो अब किसी बात की चिन्ता नहीं है। इतना खा लेने पर तो दस कोस पानी पी-पीकर चल लेंगे। यज्ञ में पहुँचने पर तो खाने-पीने का दारिद्र्य नहीं रह जायगा। देखेंगे, कहाँ-कहाँ के विद्वान् आए हुए हैं।'

आटिकी ने सरोवर से जल लाकर रख दिया। उषस्ति बड़े चाव से बासी और जूठे उड़द के दाने में से थोड़ा आटिकी के लिए अलग करके स्वयं खाने लगा। उसके पानी पी लेने के बाद आटिका भी उड़द खाकर और पानी पीकर आगे का मार्ग तय करने को तैयार हो गयी। दोपहरी लटक गई थी। सूर्य पश्चिम की ओर वापस आकर समस्त संसार को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होने का सन्देश दे रहा था। धूप की चमक कुछ मन्द हो चली थी। आटिकी और उषस्ति

वट वृक्ष की छाया से उठ कर पूर्व की ओर जाने वाली पगडण्डी को पकड़ कर आगे बढ़े। वृक्ष पर बैठे हुए पक्षियों के झुंड ने अपने कलरव से उस दम्पति की सफल होने वाली यात्रा की शुभ सूचना दी।

चलते-चलते सायंकाल हो गया। उषस्ति और आटिकी ठीक उसी तरह अविश्रान्त गति से अपनी पगडंडी पर चलते रहे जिस तरह पीछे का सूर्य चल रहा था। अंधकार की काली रेखाएँ दिशाओं में छाने लगीं। पश्चिम का क्षितिज लाल हो गया। पक्षी गण दिन भर से सूने अपने-अपने घोंसले की नीरवता भंग करने लगे; पर उषस्ति का गन्तव्य अभी तीन कोष शेष था। थकान से चूर-चूर आटकी के अंग-प्रत्यङ्ग जवाब दे रहे थे। रात में राजा के द्वार पर पहुँच कर भी कोई लाभ नहीं था अतः विवश दम्पति ने एक ऐसे स्थान पर अपना डेरा जमा दिया, जहाँ दूर तक न कोई बस्ती थी, न कोई जलाशय था। ऐसे वीरान स्थल में भोजन का कोई उपाय न देख निराशा ने भूख की तड़पन को एकदम बन्द कर दिया। दोनों प्राणी उसी पगडंडी से कुछ दूर जाकर भूमि पर लेट गए और एक विचित्र सन्तोष की साँसें खींचते हुए तारों की ओर ताकने लगे। इसी बीच में उन्हें यह भी पता नहीं लगा कि आँखों की पलकों ने एक दूसरे का संयोग प्राप्त कर इस दुःखदायी दुनिया से उन्हें रात भर के लिए कब दूर कर दिया। थकान के कारण टूटने वाले उनके अंगों ने निद्रा के मीठे अंकों में पड़ कर सन्तोष की साँस ली थी तो सहसा वे कैसे उठते। आखिरकार प्रातःकल की सरदी ने उन्हें जगाया और आगे चलकर शेष मार्ग काट देने की प्रेरणा दी। क्योंकि बहुत सबेरे ही राजा के यज्ञ में पहुँच जाने पर उसी दिन सम्मिलित हो जाने का लोभ था। दम्पति उठ कर फिर कल की तरह आगे की पगडण्डी पर चलने को तैयार हो गये। उस समय मुर्गे अपने ठाकुरजी को तथा दूर वाले गाँव के मुर्गे दशरथजी को पुकारने लगे थे।

सुहावना प्रातःकाल हुआ। सूर्य की किरणों ने संसार में कर्म-

जाल का बुनना प्रारम्भ कर दिया और उषस्ति को प्रतीक्षित राजा का नगर सामने दिखाई पड़ा। आशा के सुमधुर प्रकाश ने निराशा के घोर अन्धकार को क्षण भर में ही दूर भगा दिया। उसने बला की शक्ति आ गयी। जिस समय राजा के नगर में उन्होंने प्रवेश किया उस समय आटिकी पीछे-पीछे थी और वह आगे-आगे।

× × ×

राजा का यज्ञ पिछले पाँच छः दिनों से प्रारम्भ था। दूर तक फैले हुए विशाल मण्डप में सैकड़ों विद्वान् यज्ञकुण्ड के चारों तरफ बैठ कर आहुति छोड़ रहे थे। मण्डप के चारों प्रवेश-द्वारों पर एक-एक वेदों के पाठ करने वाले सुमधुर स्वर के साथ मंत्रों का पवित्र उच्चारण कर रहे थे। कहीं पर जप करने वाले पण्डित बैठ कर जप कर रहे थे और कहीं आहुति की तैयारी में अनेक पुरोहित लगे हुए थे। उस समय प्रहर दिन चढ़ चुका था। राजा विधिवत् स्नानादि से निवृत्त होकर पण्डितों के बीच में बैठ कर यज्ञाग्नि में आहुति डालने जा रहा था। उपस्ति ने पूर्वद्वार पर नियुक्त प्रहरियों के रोके जाने के बाद भी यज्ञ-मण्डप में बलात् प्रवेश किया। उस समय उसका तेजस्वी शरीर उसके महान् पाण्डित्य की सूचना दे रहा था अतः प्रहरियों को सामान्य वेश-भूषा में रहने पर भी उसे रोकने की हिम्मत नहीं पड़ी। प्रवेश करते ही उषस्ति ने सारे यज्ञ-मण्डप में एक उड़ती हुई दृष्टि डाली। उससे यह छिपा नहीं रह सका कि दक्षिणा के लोभ में पड़े हुए इन पुरोहितों एवं पण्डितों में कौन कितने पानी में है? उसने देखा कि पंडितों का मन कहीं दूसरी जगह है और आँखें कहीं दूसरी जगह। मुँह से बुड़बुड़ाते हुए जप करने वाले पुरोहितों की आँखें यज्ञ-मण्डप की छत में अरुझी हुई हैं और हाथ से माला की एक-एक मनिया अपने नियत क्रम में नीचे गिरती जा रही है। यज्ञ-कुण्ड की ओर आँखें फेरते ही उसे मालूम हो गया कि आहुति डालने वाले पुरोहितों में भी कितने ऐसे हैं जो स्वाहा के बाद भी आहुति गिराना

एकाध बार भूल जाते हैं। इस प्रकार राजा के यज्ञ की इस महान् दुर्दशा को देख कर उषस्ति का निश्छल मन तिलमिला उठा और स्वाभिमानी पाण्डित्य जाग पड़ा। स्वर को गम्भीर और कठोर बनाते हुए उसने पूर्व प्रवेश-द्वार के पुरोहित को संबोधित कर कहा—'प्रस्तोता महोदय ! आपके इस याज्ञिक पाप-कर्म को देख कर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। क्या आप जिसे देवता का स्तुति-पाठ वहाँ बैठ कर कर रहे हैं उसका कुछ स्वरूप भी जानते हैं ? यदि स्वरूप को बिना जाने या पहिचाने ही आप याद किए गए मंत्रों को यों ही पढ़ते जा रहे हैं तो याद रखिये कि अब आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा।'

उषस्ति की धीर गंभीर वाणी सारे यज्ञ-मण्डप में आतंक मचाती हुई पंडितों के हृदय में घुस गयी। उन्हें मालूम होने लगा मानो सच-मुच अभी-अभी मस्तक नीचे गिर रहा है। सब के सब भीतर से काँप उठे। राजा हाथ की आहुति को अग्नि में डालते हुए उठ खड़ा हुआ। पुरोहितों एवं पण्डितों की मंडली भी राजा के साथ ही उठ कर खड़ी हो गयी तब तक उषस्ति मण्डप के दूसरे प्रवेश-द्वार पर उद्गाता को पुकार कर कह रहा था—'हे उद्गीथ की स्तुति करने वाले विप्र ! यदि आप उद्गीथ भाग के देवता का स्वरूप बिना पहचाने हुए यों ही उनका उद्गान करेंगे तो अब आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा।'

राजा भी उषस्ति की गम्भीर वाणी से काँप उठा। रंग में भंग होने की भीषण संभावना ने उसे भी विचलित कर दिया। उसे मालूम होने लगा मानो दक्ष का यज्ञ विध्वंस करने वाला वीरभद्र आज पुनः भूमण्डल में आ गया है। धीरे-धीरे वह उसी ओर बढ़ने लगा जिस ओर उषस्ति घूम रहे थे। इसी बीच में उषस्ति मण्डप के तीसरे द्वार पर पहुँच कर प्रतिहार के गान करने वाले को पुकार कर कह रहे थे—'प्रतिहार के गाने करने वाले महोदय ! यदि आप देवता को बिना जाने उसका प्रतिहार करेंगे तो अब आपका मस्तक नीचे गिर जायगा।'

इस प्रकार उषस्ति की भीषण तथा गम्भीर वाणी को सुन कर

यज्ञ-मण्डप के सभी पुरोहित, प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्त्ता अपने-अपने मस्तक के नीचे गिरने के डर से काँपने लगे और यज्ञीय कर्मों को छोड़ कर चुपचाप खड़े हो गये। इसी समय भयभीत राजा हाथ जोड़ कर उषस्ति के चरणों पर गिर पड़ा और थोड़ी देर तक चुपचाप पड़े रहने के बाद उठ कर खड़ा हुआ। उषस्ति-सा क्रुद्ध और स्वाभिमानी ब्राह्मण राजा की इस विनीत भावना से पराभूत हो गया और हँसते हुए बोला—'राजन्! कहो क्या बात है?'

राजा ने गिड़गिड़ाते हुए हाथ जोड़ कर कहा—'भगवन्! आप कौन हैं? मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।'

उषस्ति ने कुछ गम्भीर होकर कहा—'राजन्! मैं उस परमर्षि चक्र का पुत्र उषस्ति हूँ, जिसके पाण्डित्य की चर्चा जगन्मण्डल में व्याप्त थी। शायद इससे अधिक परिचय देने की आवश्यकता मुझे नहीं है।'

राजा प्रसन्नता से नाच उठा और गद्गद कंठ से बोला—'ओ हो! भगवन्! ब्रह्मर्षि चक्र के सुपुत्र उषस्ति आप ही हैं! योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र! आपका नाम तो मैं बहुत दिनों से सुन रहा था। इस यज्ञ के लिए भी मैंने अपना दूत आपकी सेवा में भेजा था पर दूतों ने आकर यह बतलाया कि बाढ़ में आश्रम के बह जाने के बाद आप छात्रों समेत कहीं अन्यत्र चले गए हैं। मैंने अभी कल तक आपको ढूँढ़ने के लिये सब जगह चर भेजे हैं। मेरे धन्य भाग्य! जो आपके समान विद्वान् ब्राह्मण के चरणों का रत्न शीश में लगाया। भगवन्! मेरे सौभाग्य से ही आपका पदार्पण यहाँ हुआ है क्योंकि मैं तो आपके बारे में बहुत निराश हो चुका था।'

उषस्ति ने मुसकराते हुए कहा—'राजन्! किन्तु मुझे अभी तक आपका परिचय नहीं मिला था, क्या आप सचमुच मेरे पूज्य पिताजी को और मुझे जानते थे?'

राजा ने विनीत भाव से कहा—'भगवन्! आपके पूज्य पिताजी की मेरे ऊपर बड़ी कृपा रहती थी। वह वर्ष में एक बार इधर अवश्य

आते थे। मेरे अनेक यज्ञों के सारे काम उन्हीं के आचार्यत्व में सम्पन्न हुए हैं। इधर कई वर्ष से उनका शुभागमन नहीं हुआ। उन्हीं के मुख से मैंने आपका नाम भी सुन रखा था। इस यज्ञ के प्रारम्भ होने के ठीक तीन दिन पूर्व आपके पिताजी के देहावसान का समाचार मिला है और तभी आपके पास मैंने दूत भी भेजा था।'

उषस्ति ने कहा—'राजन्! बहुत अच्छा। आप चलिए और यज्ञ सम्पन्न कीजिये। मेरे क्रुद्ध होने का कारण केवल इतना ही था कि यह ऋत्विज लोग दिखाऊ मन से यज्ञ की सारी क्रियाएँ सम्पन्न कर रहे थे, इनको मैं सावधान कर देना चाहता था। आप अपने मन में यह खयाल न करें कि इनमें कोई त्रुटि है। यह सब के सब परम विद्वान् हैं, ब्राह्मण हैं, और यज्ञ की समस्त विधियों के जानने वाले हैं किन्तु मन को चुराने वाले हैं। अब यह पहले की तरह असावधानी नहीं कर सकते, आप निश्चिन्त रहिए। क्योंकि अब सचमुच असावधानी करने पर इनका मस्तक नीचे गिर जायगा।'

राजा ने कहा—'भगवन्! अब तो मैं चाहता हूँ कि मेरे यज्ञ की सारी विधि आप ही सम्पन्न करें।'

उषस्ति ने कहा—'राजन्! दुविधा से यज्ञ का श्रेय नष्ट हो जाता है। मेरी बातों पर विश्वास रखिए। आपके यह पुरोहित सब के सब परम विद्वान् हैं, अब इनसे कोई त्रुटि नहीं होगी। मेरी ही आज्ञा से यह सब यज्ञ-कर्म सम्पन्न करेंगे। मैं चाहता हूँ कि जितनी दक्षिणा इन्हें दी जाय उतनी ही मुझे भी दी जाय। मैं न तो इन्हें आपके यज्ञ से निकालना चाहता हूँ और न दक्षिणा में अधिक धन लेकर इनका अपमान ही करना चाहता हूँ। मेरी देख-रेख में यह सब के सब अपना अपना काम शुरू कर दें।'

राजा ने कहा—'भगवन्! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।

तदनन्तर प्रस्तोता, उद्गाता आदि समस्त ऋत्विजों ने उषस्ति

के समीप आ-आकर विनयपूर्वक उनसे यज्ञ की समस्त विधियों की यथोचित शिक्षा प्राप्त कर उस विषय में सदा के लिए पूरी जानकारी कर ली और फिर उषस्ति के आचार्यत्व में राजा के यज्ञ पूर्ववत् चलने लगा।

इस प्रकार चक्र के पुत्र उषस्ति ने ऐसी कठिनाइयों का सामना कर आपद्धर्म द्वारा अपने प्राणों की रक्षा की थी और उस धर्मभीरु राजा का यज्ञ सम्पन्न किया था।[१]

---

[१] छान्दोग्य उपनिषद् से।

महात्मा रैक्व और राजा जानश्रुति

[५]

हमारे देश में ऐसे-ऐसे दानी राजा पैदा हो गये हैं, जिनकी कीर्ति आज तक दुनिया में गाई जाती है। वह इतने बड़े परोपकारी और धर्मात्मा थे कि आज उनके कामों पर विश्वास करने वाले लोग भी बहुत कम हैं। राजा होकर भी वह अपने लिए एक पैसे की चीज नहीं रखते थे; अपना सब कुछ दान में दे देते थे। खुद तो पत्तलों में खाते थे और मिट्टी के बरतनों में पानी पीते थे किन्तु उनके यहाँ से माँग कर ले जाने वाले सोने और चाँदी के बरतनों में खाते-पीते थे। वह साल में दस-बीस ऐसे यज्ञ कराते थे जिनमें देश के कोने-कोने से ऋषि, मुनि, पण्डित, संन्यासी, वैरागी, भिक्षुक, अतिथि, अभ्यागत सम्मिलित होते थे और मनमानी दक्षिणा पाकर जीवन भर के लिए धन की चिन्ता से छुट्टी पा जाते थे। प्रजा की छोटी-छोटी जरूरतों की भी वे खबर रखते थे और आजकल के राजाओं की तरह अपने ऐशो-आराम की तनिक भी चिन्ता न कर प्रजा के सुख और सन्तोष की चिन्ता रखते थे। यही सब कारण है कि उस समय के उपकारी राजाओं की कीर्ति-कथाएँ आज तक हमारे समाज में गाई जाती हैं, जब कि वर्तमान राजाओं का नाम भी बहुत कम लोग जानते हैं।

प्राचीन काल में इसी हमारे देश में जानश्रुति नाम का एक ऐसा ही राजा रहता था। वह इतना दयालु और दानी था कि प्रतिदिन सबेरे से लेकर दोपहर तक याचकों को मनमानी दान करता था। उसके राज्य भर में सैकड़ों ऐसे सदाव्रत चलते थे, जिनमें रात-दिन गरीब लोग आकर भोजन करते थे। नगर-नगर गाँव-गाँव में गरीबों के खाने पीने का प्रबन्ध तो था ही, पढ़ने लिखने के लिए मुफ्त की पाठशालाएँ

थीं, जिनमें बड़े-बड़े विद्वान पंडित लोग पढ़ाते थे। दवा का प्रबन्ध भी राज्य की ओर से प्रत्येक गाँव में मुफ़्त होता था। कर के रूप में प्रजा से उतना ही धन लिया जाता था, जितना वह अपनी खुशी से दे देती थी। इसी का यह परिणाम था कि उसके राज्य में न कोई गरीब था न कोई दुःखी। दूर-दूर से ऋषि-मुनि लोग आ-आकर राजा जानश्रुति को ऊँची विद्या का उपदेश करते थे और वह उनकी अपने हाथों से खूब सेवा करता था। राजधानी में सैकड़ों नौकरों चाकरों के रहने पर भी वह अपने अतिथियों का सारा प्रबन्ध भरसक स्वयं करता था और उनकी प्रत्येक जरूरतों को पूरी करता था।

सब कुछ होने पर भी राजा जानश्रुति को किसी बात का तनिक भी गर्व नहीं था। जब लोग उसकी बड़ाई करते थे तो वह वहाँ से उठ कर किसी काम के बहाने से चल देता था। राजा के सामने ही विनयशील, सदाचारी और धर्मात्मा उसके पुत्र भी थे। रानी तो साक्षात् लक्ष्मी थी, उसे अपने बड़े भाग्य पर कभी तनिक भी गुमान नहीं होता था। राजमहल में छोटी नौकरानियों से लेकर अपनी सखियों तक उसका एक समान व्यवहार होता था। वह छोटे बड़े सब से इस ढंग से मीठी-मीठी बातें करती मानों सब के सुख दुःख में उसकी पूरी सहानभूति है। राजा जानश्रुति इस प्रकार मृतलोक में भी स्वर्ग का सुख भोग रहा था, उसे अपने जीवन में कभी किसी बात का खटका नहीं लगा। मंत्री, सेनापति, सिपाही, राजदूत, सभी उसका देवता के समान सच्चे हृदय से इज्जत करते और राज्य की उन्नति में तन-मन से लगे रहते।

एक दिन सन्ध्या के समय राजा अपने महल के छत पर उठँग कर कोई पुस्तक पढ़ रहा था। पढ़ते-पढ़ते वह किसी बात के विचार में लग गया और पुस्तक बन्द कर शिर के ऊपर की ओर करके कुछ सोचने लगा। इसी बीच आकाश में उड़ते हुए हंस की मानव बोली उसे सुनाई पड़ी। राजा ने सुना कि एक छोटी कतार में उड़ने वा

हंसों में सबसे पिछला हंस अगले को सम्बोधित करके कह रहा है कि—'भाई भल्लाक्ष ! नीचे देख रहे हो। राजा जानश्रुति का तेज सूर्य नारायण के तेज के समान हमारी आँखों को चकाचौंध कर रहा है। कहीं भूल से उसके समीप हो कर मत उड़ना नहीं तो भस्म हो जाओगे। मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है मानो सूर्य नारायण ही उगे हुए हैं। अपने जीवन में किसी मनुष्य का तेज मैंने इस तरह जलते हुए कभी नहीं देखा है।'

अगला हंस भल्लाक्ष कह रहा है—"भाई! क्यों न हो। राजा जानश्रुति के समान दानी, परोपकारी तथा दयालु दूसरा राजा इस पृथ्वी तल पर कौन है। उसका यह तेज उसके अमित दान, यज्ञ एवं अतिथिसत्कार का महान् फल है। पर मुझे लग रहा है कि तुमने उन गाड़ी खींचनेवाले महात्मा रैक्व को अभी तक नहीं देखा है। जहाँ तक तेज के जलने की बात है राजा उन महात्मा से अभी बहुत पीछे हैं। इसके तेज को तुम देख भी रहे हो; पर रैक्व की ओर भर आँख ताकते ही तुम घड़ी भर तक आँख भी नहीं खोल सकते। मुझे तो उनका तेज सूर्यनारायण से भी अधिक मालूम पड़ता है।'

यह बातें करते हुए हंसों की कतार कुछ दूर चली गयी; पर अभी तक उसकी आवाज राजा के कानों में आ रही थी। पिछला हंस फिर पूछ रहा है—'भाई भल्लाक्ष ! मैंने सचमुच उन गाड़ी वाले महात्मा रैक्व को अभी तक नहीं देखा है। मुझे बतलाओ कि वह किस तरह इतने तेजस्वी हो गए हैं। क्या राजा जानश्रुति से बढ़ कर वह दानी और धर्मात्मा हैं? मैं तो नहीं समझ सका कि वह किस तरह राजा के समान दान, यज्ञ और पुण्य कर सकते हैं। क्या इनसे बड़ा राज्य उनका है?'

भल्लाक्ष कह रहा है—'भाई! राजा जानश्रुति के समान उनका राज्य नहीं है, वह तो एक गाड़ी खींचते फिरते हैं, दान-यज्ञ करने का साधन उनके पास कहाँ है? पर कुछ ऐसी चीजें उनके पास हैं जो राजा जानश्रुति के पास नहीं हैं। वह इतने महान् ज्ञानी और त्यागी

महात्मा हैं कि सारा त्रैलोक्य उनका ही है। वह इतने वीतराग और निर्लिप्त हैं कि सारे मानव समाज के उपकारी पुण्य कर्मों का श्रेय अकेले उन्हीं को मिल सकता है, क्योंकि उनके त्याग के भीतर सब कुछ आ जाता है।'

इसके उत्तर में पिछले हंस ने कहा—'भाई भल्लाक्ष! यह बात हमारी समझ के बाहर है कि सारे मानव समाज के समस्त उपकारी पुण्य कर्मों का श्रेय उन महात्मा रैक्व को अकेले मिल जाता है! काम करे कोई और श्रेय मिले किसी दूसरे को, यह किस तरह से संभव हो सकता है? अगर ऐसा हो तो संसार में लोग पुण्य कर्मों का करना ही छोड़ दें।'

भल्लाक्ष धीरे-धीरे बहुत दूर तक उड़ गया था; परन्तु राजा कान लगा कर उसकी आवाज सुनता रहा। वह कह रहा था—'भाई! इस विषय में तुम्हें एक दृष्टान्त बतलाता हूँ। जैसे जुआ खेलने के पासे के निचले तीनों भाग उसी के अन्तर्गत हो जाते हैं, यानी जब जुआरी का पासा दाँव पर पड़ता है तब वह तीनों को जीत लेता है, इसी प्रकार इस समय प्रजा जो कुछ भी शुभ कार्य करती है, उन सब का सुफल महात्मा रैक्व के शुभ फलों के अन्तर्गत हो जाता है। प्रजाओं के समस्त शुभ कर्मों का फल उन्हें इसलिए भी मिलता है कि उनका निजी जीवन या शरीर भी अपने लिए नहीं है, समाज के हित के लिए है। ऐसी दशा में समाज का शुभ फल उन्हें क्यों न मिले! उन महात्मा रैक्व के समान संसार की वस्तुओं के वास्तविक तथ्यों को जो जान लेता है वह भी उन्हीं के समान पूज्य बन जाता है। राजा जानश्रुति की पहुँच अभी उतनी नहीं है वह······।'

हंसों की कतार उड़ती हुई बहुत दूर चली गयी और अब उनकी आवाज का सुनाई पड़ना एकदम बन्द हो गया। इधर राजा जानश्रुति के कानों में पड़ कर हंसों की यह बातें हृदय में खलबली पैदा

करने लगीं। वह यह जानने के लिए उत्सुक हो गया कि वह महात्मा रैक्व कौन हैं ?

रात भर अपने महल की छत पर वह तारे गिनता रहा, ठीक से नींद नहीं लगी। बार-बार उसके दिमाग में यही विचार चक्कर काटता रहा कि मेरे किए गए पुण्य कर्मों का श्रेय मुझे न मिल कर महात्मा रैक्व को क्यों मिलेगा ? क्या वह इतने महात्मा हैं कि मेरे किए गए यज्ञ, दान तथा अन्य कर्मों से बढ़ कर पुण्य करते हैं ? उन्हें देखना चाहिए। पृथ्वी तल पर तो ऐसा कोई महात्मा नहीं बचा है, जो मेरी दी गयी सुविधाओं से लाभान्वित न हुआ हो, तो यह रैक्व कहाँ रहे जो अब तक मैं इनका नाम तक नहीं सुन सका! यह भी हो सकता है कि हंसों को मेरे किए गए पुण्य कर्मों का पूरा-पूरा पता न हो और झूठ-मूठ में ही रैक्व की प्रशंसा करते फिरते हों। पर नहीं। हंसों का रैक्व से क्या स्वार्थ सधता होगा। वह निःस्वार्थ किसी की प्रशंसा क्यों करेंगे ? अवश्य ही महात्मा रैक्व के गुण प्रशंसनीय होंगे। मुझे उनका दर्शन तो जरूर करना चाहिए।'

रात भर इस प्रकार उधेड़-बुन में पड़े हुए राजा जानश्रुति को जीवन में पहली बार चिन्ता का सामना करना पड़ा। अब तक कभी स्वप्न में भी उसे इस प्रकार का खयाल नहीं आया था कि मेरे किए गए पुण्य कर्मों का श्रेय कोई दूसरा ही हड़प लेगा।

सवेरा हुआ। प्रातःकाल के नित्य कर्मों से निवृत्त होकर राजा ने अपने सारथी को बुलवाया और एकान्त में उससे कहा—'सारथी! क्या तुमने महात्मा रैक्व का नाम सुना है ? वह शायद एक गाड़ी लिये हुए घूमते फिरते हैं। मैंने भी उनका नाम अभी कल सुना है; पर उनकी इतनी प्रशंसा मैंने सुनी है कि मन में उन्हें देखने की बड़ी उत्कण्ठा जाग पड़ी है। तुम रथ लेकर जाओ और पता लगाकर मुझे शीघ्र बतलाओ। यदि रथ पर आने को वह राजी हो तो साथ ही लिवाते भी आओ। मगर खयाल रखना, यदि वह न आना चाहें

तो जिद भी मत करना। सुनते हैं, उनके समान पुण्यात्मा और तेजस्वी इस संसार में कोई दूसरा पुरुष नहीं है।'

सारथी ने हाथ जोड़ कर कहा—'महाराज! आपने चाहे जो सुना हो। किन्तु इस संसार में आपसे बढ़ कर भी कोई पुण्यात्मा या तेजस्वी हो सकता है, यह केवल कल्पना की बात है। यह आपकी सरलता है कि आप किसी महात्मा का नाम सुनकर उसके दर्शन के लिए इतने उत्कण्ठित हो जाते हैं। इस ससार में कौन ऐसा मनुष्य है जो आपके दान के प्रभाव न जानता हो।'

राजा जानश्रुति को सारथी की बातें बहुत पसन्द नहीं आयी। शिर हिलाते हुए बोला—'सारथी! तुम नहीं जानते। उन महात्मा रैक्व का ऐसा प्रभाव मैंने सुना है कि संसार में जो कुछ भी पुण्यकर्म किया जाता है उन सब का श्रेय उन्हीं को प्राप्त होता है। वह इतने वीतराग और निर्लिप्त महात्मा हैं कि उन्हें अपने शरीर का मोह भी नहीं है। मैं ऐसा त्यागी तो नहीं हो सका हूँ। यही कारण है कि मैं उनके पवित्र दर्शन का इतना भूखा हूँ। तुम जाओ और यदि जरूरी समझो तो अपनी सहायता के लिए बन्दियों और मागधों को भी साथ लिवाते जाओ। क्योंकि उन्हें देश का सब हाल मालूम रहता है।'

सारथी चुप हो गया। थोड़ी देर बाद हाथ जोड़ कर फिर बोला—'महाराज! आपकी आज्ञा है तो मैं उन्हें जहाँ भी पाऊँगा, साथ लिवा कर आऊँगा। मुझे बन्दिओं और मागधों की आवश्यकता नहीं है। महाराज की कृपा से मुझे सातों द्वीपों में ऐसा कोई नगर वा उपनगर नहीं है, जिसकी जानकारी न हो। मैं उन्हें बहुत शीघ्र लिवा लाऊँगा।'

राजा के चरणों पर शीश झुका कर सारथी अपने घर आया और रथ को सुसज्जित करके देश भर में घूमने लगा। फिर तो नगर-नगर घूम कर उसने देश भर की मुख्य-मुख्य सड़कों से उपनगरों का भी पता लगाया, गली-कूचों में भी छान-बीन करवायी, बड़े-बड़े

महलों, मन्दिरों और शिवालयों में भी पता लगवाया, घरों और झोपड़ों तक की जानकारी हासिल की, पर कहीं किसी ने उन गाड़ीवाले महात्मा रैक्व का पता न बताया। वह बहुत परेशान रहा पर कहीं कोई पता नहीं लग सका। फिर तो निराश होकर वह राजधानी को वापस आया और राजा जानश्रुति के सामने हाथ जोड़ कर बोला — 'महाराज! मुझे तो सारे पृथ्वी तल पर उन महात्मा रैक्व का कहीं पता भी नहीं लगा। मैंने उसके लिए देश भर के नगरों, गाँवों, मन्दिरों और झोपड़ों तक को छान डाला, पर किसी ने उनका नाम भी नहीं बतलाया। मैं तो समझता हूँ कि यह सब झूठी बात है। इतने बड़े महात्मा का नाम भी लोग न जानते हों, यह आश्चर्य है।'

राजा जानश्रुति ने उदास होकर कहा—'सारथी! मैं मानता हूँ कि तुमने महात्मा के ढूँढ़ने में बहुत परिश्रम किया है, पर तुमने मेरी समझ से ठीक काम नहीं किया। रैक्व के समान वीतराग और निःस्पृह महात्मा ऐसी जगहों में क्यों रहने लगे, जहाँ भीड़-भाड़ का अंदेशा हो। वह कहीं एकान्त में पड़े होंगे। पर्वतों की गुफा या नदी के सुन्दर तट पर ही उनका निवास हो सकता है। तुम जाओ, और एक बार फिर उनके ढूँढ़ने में परिश्रम करो, मैं चाहता हूँ कि इस बार तुम अपनी सहायता के लिए बन्दियों तथा मागधों को भी साथ लिवाते जाओ।

सारथी ने हाथ जोड़ कर कहा—'महाराज! आपकी आज्ञा से मैं फिर उन महात्मा को खोजने जा रहा हूँ! मुझे किसी भीड़-भाड़ की जरूरत नहीं है, मैं अकेले ही उनका पता लगा सकता हूँ।'

राजा को शिर झुका कर सारथी अबकी बार अकेले ही महात्मा रैक्व को ढूँढ़ने के लिए राजधानी से बा र निकला। रथ को पर्वत की गुफाओं में या नदियों के तट पर या जंगलों में साथ ले जाना कठिन समझ कर उसने राजधानी में ही छोड़ दिया। संयोग की बात। इस बार जैसे ही वह राजधानी के उत्तर तरफ जंगल वाले मार्ग से जा रहा

था कि बीच मार्ग में खड़ी हुई एक गाड़ी दिखाई पड़ी, जिसमें न तो बैल थे और न कोई सामान ही रखा हुआ था। गाड़ी के समीप पहुँच कर सारथी ने देखा कि उसके नीचे एक परम तेजस्वी महात्मा बैठे हुए अपने पेट को खुजला रहे हैं। उनके तेजस्वी ललाट से तेज की किरणें फूट सी रही हैं। उनके सुन्दर स्वस्थ शरीर पर न तो ठीक से कोई वस्त्र है न कोई सजावट। दाढ़ी के बाल बे-तरतीब बढ़े हुए हैं, शिर पर भूरे-भूरे बालों की जटा लता की एक बल्लरी से बाँध दी गई है, पर मुखमण्डल से बादलों में अधखुले चन्द्रमा के समान प्रकाश की किरणें-सी हँस रही हैं। सारथी ने झाँक कर देखा तो उसे यह निश्चय हो गया कि गाड़ी वाले महात्मा रैक्व यही हैं। दूर से ही निश्चय बना कर सारथी उनके पास गाड़ी के नीचे पहुँचा और नम्रतापूर्वक प्रणाम करते हुए दोनों चरणों को छू कर शिर पर लगाया। महात्मा रैक्व का ध्यान सारथी के इस व्यापार से जब तनिक भी विचलित नहीं हुआ तब अपनी ओर ध्यान खींचने के इरादे से उसने विनीत स्वर में कहा—'महाराज! क्या मैं यह मान लूँ कि गाड़ी वाले महात्मा रैक्व आप ही हैं? आपको ढूँढ़ने के लिए मैं कितने दिनों से परेशान हूँ।'

सारथी की विनीत वाणी से रैक्व ने अपनी तेजस्वी आँखें इधर फेर दीं, और कहा—'हाँ, रैक्व मेरा ही नाम है।' इतना कह कर वह फिर पहले की तरह अपना पेट खुजलाते हुए दूसरी ओर ताकने लगे।

रैक्व की तेजस्वी आँखों की ओर देख कर सारथी की यह हिम्मत छूट गयी कि वह उनसे कुछ और बातचीत आगे बढ़ाये। आज तक उसे इस प्रकार के तेज से जलते हुए मुखमण्डल को देखने का मौका नहीं लगा था। यही नहीं, उसने इस तरह के विचित्र आदमी की कल्पना भी नहीं की थी, जो पूरी बात का उत्तर दिए बिना दूसरी ओर ताकने लगे। कम से कम एक विख्यात राजा के सारथी होने के नाते उसने मनुष्य स्वभाव का जो अनुभव प्राप्त किया था, उसके हिसाब से महात्मा रैक्व उसे एक विचित्र आदमी से दिखाई पड़े।

उसकी नजर में अगर वह एक महात्मा-से दिखाई पड़े तो एक पागल से कम भी नहीं थे। संसार से इस तरह निरपेक्ष रह कर कोई कैसे जी सकता है, यह टेढ़ी बात उस दानी राजा के बुद्धिमान् मंत्री के मन में नहीं बैठी। वह थोड़ी देर तक चुप रहा, फिर देखा कि जब महात्मा अब उससे कुछ भी बोलना पसन्द नहीं कर रहे हैं तो पैरों को छूकर वह गाड़ी के नीचे से बाहर चला आया और एक विचित्र खुशी में राजधानी के मार्ग पर चल पड़ा।

महात्मा रैक्व के मिलने का समाचार सारथी द्वारा सुन कर राजा जानश्रुति को बड़ी प्रसन्नता हुई। अब वह उनके दर्शन की विधिवत् तैयारी में लगे। शुभ मुहूर्त में अपने साथ छः सौ बिआई हुई गौएँ, एक बहुमूल्य सोने का हार, जिसमें बीच-बीच में हीरे-मोती गुँथे हुए थे, एक सुन्दर रथ, जिसमें बहुत बलवान घोड़े जुते हुए थे, लेकर महात्मा रैक्व के पास पहुँचे। उस समय भी महात्मा रैक्व उसी गाड़ी के नीचे बैठ कर अपने पेट में हुई खाज को खुजला रहे थे। राजा ने रैक्व के पास जाकर आदर सहित प्रणाम करते हुए दोनों चरणों को छुआ और फिर थोड़ी देर तक चुप रह कर विनीत स्वर से हाथ जोड़-कर सुवर्ण की माला को दिखाते हुए कहा—'महात्मन्! मैं राजा जानश्रुति का पौत्र जानश्रुति हूँ। आपकी सेवा में मैं सामने खड़ी हुई छः सौ ब्याई गौएँ, एक सुन्दर रथ तथा यह माला समर्पित करना चाहता हूँ। मेरे राज्य में इतने दिन रहते हो गए कभी आपने राजधानी को पवित्र करने की कृपा नहीं की, नहीं तो इस तरह टूटी फूटी गाड़ी को खींचने की आपको क्या जरूरत थी? मेरे राज्य भर में कोई भी महात्मा आपकी तरह कठिनाई का जीवन नहीं बिताता। क्षमा कीजिएगा, मुझे आपका पता बिल्कुल ही नहीं था, नहीं तो इतने कष्ट आपको कदापि न सहन करने पड़ते। हे महाराज! मेरी इस भेंट को कृपा कर स्वीकार कीजिए और आप जिस देवता

की उपासना में लगे हुए हैं, उसका उपदेश मुझे भी कीजिए। मैं भी आपका एक छोटा-सा दास हूँ।'

राजा की ओर कुछ क्रुद्ध नेत्रों से आग उगलते हुए के समान महात्मा रैक्व ने गम्भीर स्वर में कहा—'शूद्र! यह गौएँ, यह रथ और यह हार तू अपने ही पास रख। मुझे इनकी बिल्कुल जरूरत नहीं है। मेरे लिए तो अपनी यह टूटी-फूटी गाड़ी ही बहुत है।'

रैक्व की क्रुद्ध बातें सुन कर दयालु राजा जानश्रुति ने सोचा कि कदाचित् दक्षिणा में बहुत कमी देख कर ही महात्मा ने मुझे शूद्र कहा है। या तो हंसों की बात सुन कर मैं उनसे दिल में ईर्ष्या करने लगा हूँ, इसलिए शूद्र कहा है। थोड़े धन पर कहीं उत्तम विद्या की प्राप्ति हो सकती है? यह थोड़े धन से हमारी परम विद्या जानना चाहता है सम्भवतः इसी बात पर महात्मा ने मुझे फटकारा है और मेरी बातों का कोई उत्तर भी नहीं दिया है।'

उधर महात्मा रैक्व जानश्रुति से उक्त बातें कहने के बाद फिर अपना मुख दूसरी ओर घुमा कर बैठ गये और कुछ सोचते हुए पेट की खाज खुजलाने लगे। राजा जानश्रुति को फिर से उन्हें छेड़ने की हिम्मत नहीं हुई। वह चुपचाप गाड़ी के नीचे से उठ कर बाहर चले आये और नौकरों को सब सामान वापस ले चलने की आज्ञा देकर सारथी के साथ रथ पर सवार होकर राजधानी की ओर चल पड़े। रास्ते में उसे महात्मा रैक्व की बातें रह-रह कर तंग करने लगीं। लाखों बातें सोचने पर भी वह यह नहीं जान सका कि 'शूद्र' की नयी उपाधि उसे आज क्यों मिला है? जिसे सारा संसार आँख की पलकों में रखना चाहता है, पशु-पक्षी तक जिसके यश की बातें कहते फिरते हैं, उसे 'शूद्र' कहने वाला महात्मा है या कोई पागल। सारथी तो रैक्व की बातों से इतना दुःखी हो गया था कि सारे मार्ग में राजा से कुछ बातचीत छेड़ने की उसकी हिम्मत ही छूट गयी।

सायंकाल राजधानी में पहुँच कर राजा जानश्रुति ने वह रात

बड़ी बेचैनी से बिताई। दूसरे दिन प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर उसने विचार किया कि बिना ज्ञान के अब मेरा शोक दूर नहीं हो सकता। संसार में जितने भी विद्वान् या महात्मा हैं, सब मेरी प्रशंसा करते हैं, केवल रैक्व ही शूद्र रूप में जानते हैं। निश्चय ही वह सब से बड़े महात्मा हैं, क्योंकि शूद्र के सिवा किसके मन में ईर्ष्या, द्वेष और शोक रह सकता है। इसलिए उन्हें जिस तरह भी हो सके, प्रसन्न करके सच्चे ज्ञान प्राप्ति करना ही अब मेरा धर्म है। मुझे उन महात्मा की कृपा अवश्य मिलनी चाहिए। उनके बिना मेरे इस शोक को दूर करने की शक्ति किसी दूसरे में नहीं है।

मन में इस तरह का निश्चय पक्का करके राजा जानश्रुति इस बार अपने साथ एक हजार ब्याई हुई गौएँ, सोने का दूसरा बहुमूल्य हार, दूसरा सुन्दर रथ तथा अपनी इकलौती कन्या लेकर महात्मा रैक्व की सेवा में उपस्थित हुआ। और सब कुछ चरणों में निवेदन करते हुए विनीत स्वर में बोला—'भगवन्! यह सब सामग्री मैं आपको भेंट देने के लिए लाया हूँ। इनको आप स्वीकार कीजिए। मेरी यह कन्या आपकी धर्मपत्नी बन कर रहेगी। जहाँ पर आप बैठे हुए हैं, वह प्रदेश तथा उसके आस-पास के बीस गाँव भी मैं आप ही को अर्पण करता हूँ। आप मेरी तुच्छ भेंट को सप्रेम अंगीकार कीजिए। और मुझे उस देव की उपासना का तत्त्व बतलाइये, जिसकी आराधना में इस तरह संसार से विरक्त होकर लगे हैं। मेरी दृष्टि में संसार में आपसे बढ़ कर महात्मा कोई दूसरा नहीं है इसीलिए जिन वस्तुओं को मैं सब से अधिक कीमती तथा प्रिय समझता था, उन्हीं से आपकी सेवा कर रहा हूँ। मैं खाली हाथों से आपकी सेवा करना नहीं चाहता।'

राजा की इस लंबी बातचीत को सुन कर रैक्व ने अपनी सहज चितवन से सामने खड़ी हुई राजा की गौओं, हार, रथ और उसकी परम सुन्दरी कन्या पर उड़ती हुई दृष्टि डाली और कुछ रूखे स्वर

में कहा—'शूद्र ! तू खाली हाथों से नहीं खाली हृदय और पाप भरे मन से उपदेश ग्रहण करने आया है। तू मेरे ज्ञान का मूल्य आँकने चला है। जिस वस्तु को एक बार मैं ठुकरा चुका उसको कम समझ कर उससे अधिक के द्वारा तू हमारे उपदेश को खरीदना चाहता है। जिस ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति तू करना चाहता है वह संसार के साम्राज्य से भी लाखों गुना कीमती है। तेरी यह मृतक गाएँ, टूटने वाला रथ, नष्ट होने वाला हार, और मरणधर्मा कन्या उसकी एक मात्रा की भी कीमत नहीं चुका सकते। भला बतलाओ तो सही कि इन विनाश होने वाली वस्तुओं के बदले में ब्रह्म के शाश्वत ज्ञान का उपदेश तुझे किस प्रकार मिल सकता है ? तेरे समान दानशील और उपकारी राजा को तो मैं इतना मूर्ख नहीं समझता था। तू तो पूरा पशु निकला। तुम्हारी जगह पर यदि कोई दूसरा राजा होता तो मैं उसे शाप देकर भस्म कर देता। पर मुझे मालूम है कि हृदय से पापी नहीं है।'

रैक्व की मृदंग के समान गम्भीर स्वर में गूँजने वाली उक्त बातों को सुन कर और सात्त्विक क्रोध से प्रदीप्त उनके मुखमण्डल को देख कर राजा जानश्रुति विचलित हो गये। उनका धैर्य छूट गया। भय के कारण उनके ललाट पर पसीने की धारा फूट पड़ी। कण्ठ सूख गया और आगे बोलने की हिम्मत छूट गयी। जीवन में इस अनहोनी घटना का उन्हें स्वप्न में भी कभी भान नहीं हुआ था। महत्त्व के ऊँचे शिखर पर से गिर कर वह पाताल के गर्त में डूबने लगे। अन्त में निरुपाय होकर वह महात्मा रैक्व के चरणों पर गिर पड़े और गिड़गिड़ाते हुए बोले—'भगवन् ! आप सर्वान्तर्यामी हैं। इस चराचर संसार में कोई भी वस्तु आपसे छिपी नहीं है। किसी पाप-भावना से प्रेरित होकर मैंने यह अपराध नहीं किया है। मुझे हृदय से क्षमा कीजिए और जिस उपाय से मेरा मानसिक शोक दूर हो, मेरी अविद्या का काला परदा सदा के लिए नष्ट हो जाय, वह उपाय कीजिए। मैं अब तक कितने अज्ञान में था, इसे आज ही जान सका हूँ।'

राजा की विनीत और करुणा से भरी वाणी को सुन कर महात्मा रैक्व के ज्ञान-विदग्ध हृदय में दया का अंकुर फूट पड़ा। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद वह बोले—'राजन्! जो कुछ मैं जानता हूँ, या जिस देवता की उपासना में मैं लीन रहता हूँ, यदि उन सब बातों को तू जानना चाहता है तो इन गायों के साथ रथ और हार को राजधानी में वापस कर दे। केवल तुम्हारी सुन्दरी कन्या का वरण मैं करूँगा। इन तुच्छ और नश्वर वस्तुओं के दाम पर तू उसे नहीं खरीद सकता। उसके लिए तो तुझे अपना सर्वस्व अर्पण करना पड़ेगा। जब तक तू अपने को खुद नहीं अर्पण कर देता तब तक तेरा अज्ञान नहीं मिट सकता। अपने आप को अलग करके तथा पराई वस्तुओं पर अपना अधिकार समझ करके जब तक दान का पाखण्ड तू करता रहेगा तब तक तुम्हारे हृदय से अज्ञान की कालिमा दूर नहीं होगी और उस काले पंकिल हृदय से ज्ञान का अंकुर नहीं फूट सकेगा। मनुष्य के हृदय से जब तक अपने धन, अपने अधिकार और अपनी लालसाओं की सूक्ष्म भावना दूर नहीं हो जाती तब तक वह सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता। उस काले पापी हृदय में भगवान् का निवास नहीं हो सकता, क्योंकि तुम तो जानते हो कि वह क्षीरसागर अर्थात् दूध के समुद्र में निवास करने वाले हैं। जब तक मनुष्य का शुद्ध हृदय दूध के समान निर्मल नहीं हो जाता तब तक उस क्षीर समुद्रशायी भगवान् का निवास क्यों कर हो सकता है? राजन्! जो लोग अपने आप को बचा कर तेरी तरह केवल अपने अधिकारों का समर्पण करते रहते हैं वे भगवान् के पाने का स्वप्न बेकार में देखते हैं।'

महात्मा रैक्व की ज्ञान से भरी उक्त बातें सुन कर राजा जानश्रुति के भीतरी नेत्र खुल गये, वह फिर से उनके चरणों पर गिर पड़े और बड़ी देर तक अपने अज्ञानमय जीवन की बातें सोच-सोच कर आँसू बहाते रहे।

फिर थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद उन्होंने सारथी को गौएँ, रथ और हार कन्या को राजधानी पहुँचाने का इशारा देकर महात्मा रैक्व से हाथ जोड़ कर कहा—'भगवन्! मैं कितने अज्ञान में था। मेरे जीवन के कितने अमूल्य दिन यूँ ही बेकार में बीत गये। मैं जिसे सुवर्ण समझता था वह एकदम मिट्टी से भी बेकार ठहरा। आज मेरे पुण्य के सच्चे दिन उदय हुए हैं। मैं आज से आपकी शिष्यता अंगीकार कर रहा हूँ।' महात्मा रैक्व ने जानश्रुति को ब्रह्मज्ञान का सच्चा अधिकारी समझा और उसे विधिवत् ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया। ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर दयालु और परमार्थी राजा जानश्रुति का तेज सचमुच बहुत बढ़ गया वह जीवन्मुक्त हो गया और उसके मानसिक शोक सदा के लिए दूर हो गये। ब्रह्मज्ञान से निर्मल एवं स्वच्छ उसके हृदय में भगवान् का निवास हो गया।

× × ×

राजा जानश्रुति की परम सुन्दरी, लज्जावनतमुखी कन्या महात्मा रैक्व के साथ व्याह दी गयी। जिस सौभाग्यशाली प्रदेश में महात्मा रैक्व ने राजा जानश्रुति को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया था और राजपुत्री के साथ पाणिग्रहण संस्कार किया था वह बहुत दिनों तक रैक्वपर्ण के नाम से विख्यात रहा।[1]

---

[1] छान्दोग्य उपनिषद् से

उपकोसल की सफलता

[१]

जबाला के पुत्र जाबाल का दूसरा नाम सत्यकाम था। प्रायः लोग उन्हें इसी नाम से अधिक जानते थे। सत्यकाम की विद्वत्ता और निःस्पृहता की चर्चा उस समय के सभी आचार्यों से अधिक होती थी। उसका मुख्य कारण यह था कि सत्यकाम अपने विद्यार्थियों की विद्या पर उतना अधिक ख्याल नहीं करते थे जितना उनके चरित्रवान बनने पर। वह पहले अपने विद्यार्थियों को सच्चरित्र बनने की शिक्षा देते थे और जब जान लेते थे कि विद्यार्थी अपने चरित्र को पूरा-पूरा सँभाल चुका है तब उसे ब्रह्मविद्या की शिक्षा देते थे। इसका फल यह होता था कि उनके योग्य और चरित्रवान् विद्यार्थियों की देश के कोने-कोने में प्रशंसा की जाती थी, जब कि दूसरे आचार्य के विद्यार्थी उतने सफल विद्वान् भी नहीं होते थे। उस समय के समाज में सत्यकाम के योग्य और विद्वान् शिष्यों ने एक ऐसी धारा बहा दी थी कि देश के ओर-छोर से सभी अपने पुत्र को सत्यकाम की देख-रेख में पढ़ने के लिए भेजने लगे।

सत्यकाम की शिक्षा गुरुकुल में प्रवेश करते ही शुरू नहीं होती थी। विद्यार्थी अपनी सत्यनिष्ठा, सेवा-भावना, सहिष्णुता, धीरता तथा शारीरिक स्वास्थ्य की जब पूरी-पूरी योग्यता प्राप्त कर लेता था, तब उसे दो-तीन वर्ष के बाद शास्त्रीय विद्या का श्रीगणेश कराया जाता था। एक बार की चर्चा है कि जाबाल के यहाँ विप्रवर कमल का पुत्र उपकोशल विद्याध्ययन के लिए आया। वह प्रकृति का बड़ा कुन्द था। जो कुछ बातें उसे बताई जातीं जल्दी में ग्रहण नहीं करता था। साथी लोग सदा उसका मजाक बनाए रहते थे पर वह कुछ भी

खयाल नहीं करता था। अक्सर ऐसा होता था कि दो-तीन या अधिक से अधिक चार साल के बाद विद्यार्थियों को विद्याध्ययन का प्रारम्भ करा दिया जाता था; पर उपकोसल में पाँच-छः साल के बाद भी वह योग्यता नहीं आ सकी कि सत्यकाम उसे विद्याध्ययन के आरम्भ करने की अनुमति देते। देखते-देखते उपकोसल के साथ आने वाले कितने साथी अन्तिम दीक्षा लेकर गुरुकुल से विदा होकर भी चले गये पर उपकोसल अभी तक जैसा का तैसा ही बना रहा।

सत्यकाम ने पहले चार-पाँच साल तक तो उसे केवल आश्रम की गौओं को चराने का काम सौंप रखा था; पर उसके बाद भी जब उसका कुछ सुधार नहीं हुआ तो इस खयाल से कि आश्रम में दिन-रात के रहने से साथियों की देखा-देखी उसमें भी कुछ जागृति आएगी, आश्रम की अग्नियों की सेवा का भार उसे सौंपा। रात-दिन साथियों के संसर्ग से उपकोसल की आँखें सचमुच खुल गयीं। उसने यह सोचा कि मेरे कितने साथी गुरुकुल से विद्याध्ययन समाप्त कर चले गए पर मैं अभी तक कुछ नहीं कर सका। पता नहीं, गुरुजी मेरे ऊपर क्यों अप्रसन्न हैं जो अभी तक शास्त्रीय विद्या के आरम्भ करने की अनुमति भी नहीं दे रहे हैं। सारे गुरुकुल में मेरे जितना सयाना कोई विद्यार्थी नहीं है, सभी साथी मेरा मजाक बनाते हैं पर पता नहीं गुरुजी मेरे ऊपर कुछ भी खयाल नहीं कर रहे हैं। इस तरह वह भीतर ही भीतर घुलने लगा पर गुरु से कुछ स्पष्ट रूप में कहने की हिम्मत उसे नहीं पड़ी। इधर तन-मन से अग्नियों की सेवा में वह लग गया और गुरु तथा गुरुपत्नी के आदेश की प्रतिक्षण प्रतीक्षा करने लगा।

सत्यकाम पत्थर के तो थे नहीं। उपकोसल की सच्ची सेवा से वह मन ही मन प्रसन्न होने लगे पर कठिनाई इसलिए थी कि अभी तक उसमें धीरता नाम मात्र के लिए भी नहीं आ सकी थी और अधीर को विद्या दान करना सत्यकाम के नियमों से विरुद्ध पड़ता था!

× × ×

उपकोसल के मन की व्यथा उस दिन बहुत बढ़ गयी जिस दिन उसके साथ अग्नियों की उपासना करने वाले साथियों का समावर्तन संस्कार हो रहा था। एक ओर सारे गुरुकुल में आनन्द की लहरें लहरा रही थीं, पर अभागे उपकोसल का मन अधीर हो उठा था। उसे अपने बाल-साथियों का संग छूटने का उतना ही दुःख था जितना पिछले नये साथियों के साथ काम करने का। उस दिन सवेरे से ही वह अग्निकुण्ड के समीप कोने में बैठा ही रह गया। बाहर विशाल मण्डप में दीक्षान्त समारोह मनाया जा रहा था पर उपकोसल के सामने यज्ञकुण्ड की अग्नि जल रही थी और हृदय में ईर्ष्याग्नि की लपटें उठ रही थीं। वेदों की गगनभेदी ध्वनियों के बीच उसके साथियों की मांगलिक दीक्षा समाप्त हो गयी और वह गुरुपत्नी तथा साथियों से आशीर्वाद और शुभ कामनाओं को लेकर अपने अपने घर को प्रस्थान कर चुके पर उपकोसल उसी तरह कोने में बैठा-बैठा दुःखी मन से सब कुछ देख रहा था। इतने दिन तक साथ-साथ रहने वाले, साथ-साथ खाने-पीने वाले, एक दूसरे की विपत्ति-सम्पत्ति में साथ देने वाले साथियों ने चिरकाल बाद जाने की उत्सुकता में उसकी खोज भी नहीं की, यह देख कर उसका आहत हृदय अमर्ष से एकदम भर गया। उसकी आँखों से विवशता के कारण आँसू की धारा बह निकली और वह अपने अभाग्य के ऊपर झल्ला उठा।

इसी दुःखमय स्थिति में बैठे हुए उपकोसल को सायंकाल समीप आ गया; उस कोने से उठ कर बाहर आने की उसकी हिम्मत नहीं हुई। आखिरकार गुरुपत्नी की जरूरतों में उसकी खोज शुरू हुई। प्रतिदिन सायंकाल के समय वह ईंधन ला कर अग्निशाला के समीप रखता था और मंत्रों से उनका अभिसिंचन करके यज्ञकुण्ड में आहुति करता था; पर आज न तो शाला के समीप ईंधन कोई जुटाने वाला है, न मंत्रों से अभिसिंचन करने का स्वर ही सुनाई पड़ रहा है। गुरुपत्नी की आज्ञा से नये शिष्यों ने वन्य प्रान्त की ओर का सारा

मार्ग ढूँढ डाला पर कहीं उपकोसल का पता नहीं लग सका। गुरुपत्नी की चिन्ताएँ बढ़ गयीं, वह सोचने लगीं कहीं अपने पुराने साथियों के मोह में फँस कर उपकोसल भी तो नहीं घर चला गया। पर यह ऐसा अबोध तो नहीं है कि जिस उद्देश्य सिद्ध के लिए बारह वर्षों की कठिन साधना की उसे अधूरी छोड़ कर कहीं भाग जाय। हो सकता है कि साथियों के चले जाने से कहीं उदास हो कर बैठा हो। इसी उधेड़ बुन में वह यज्ञशाला में गयीं और वहाँ देखा तो कोने में दुबका हुआ उपकोसल चुपचाप आँखों से आँसुओं की धारा बहता हुआ शिर नीचे किए हुये बैठा है। गुरुपत्नी को देख कर उसके अमर्ष का वेग बढ़ गया और वह फफक-फफक कर रोने लगा।

उपकोसल की इस दीन-दशा को देख कर दयालु गुरुपत्नी की करुणा भी उमड़ पड़ी। कोने से उसे खींच कर अंक में लगाते हुए वह बोलीं—'मेरे प्यारे! तू इतना उदास क्यों हो रहा है, मैं आज ही तेरे गुरु से तुझे विद्यारम्भ कराने की अभ्यर्थना करूँगी। तू तनिक भी उदास मत हो। देख, सायंकाल आ गया, और अभी तक तेरी अग्नियों की सायंपूजा नहीं हुई, न ईंधन आया और न अभिसिंचन का कुश और जल। शीघ्र जा, और अपना काम कर, तुझे इतना दुःखी तो नहीं होना चाहिये। मेरे रहते हुए तुझे किस बात का कष्ट है, जो इस तरह घर भागने के लिए ललक रहा है।'

उपकोसल चुपचाप ईंधन लेने के लिए वन्य मार्ग की ओर चला गया गुरुपत्नी की ममता से भरी हुई वाणी ने उसके हृदय का काँटा काढ़ दिया। वह कुछ हल्का बन गया क्योंकि मन का सारा दुःख आँसुओं के रूप में बाहर निकल गया था। पुराने साथियों के घर चले जाने से उसे आज एक नवीन प्रेरणा मिली। वह सोचने लगा कि मैं अभी कितना अधीर हूँ, इतने दिनों तक आश्रम में रह कर भी किसी योग्य नहीं बन सका। अवश्य मुझमें कोई कमी है, जो गुरु जी मुझे

विद्यादान का पात्र नहीं समझते। अब मुझे सच्चे तन-मन से अपने कर्त्तव्य में जुट जाना है, देखें कब उनका हृदय पसीजता है।

उपकोसल के इन्धन के लिए वन में चले जाने के थोड़ी ही देर बाद सत्यकाम भी आ गये। गुरु पत्नी ने उपकोसल की उद्विग्नता का समाचार सुनते हुए कहा—'उपकोसल की दीनता से मैं आज विचलित हो गई हूँ। उसे आश्रम में रहते हुए बारह वर्ष के ऊपर हो गये। उसने श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य के नियमों का यथोचित पालन किया है और आपकी यज्ञशाला की अग्नियों की भली भाँति आराधना की है। उसके पीछे आए हुए साथी दीक्षा ग्रहण कर गृहस्थ धर्म में सम्मिलित हो गये पर वह ज्यों का त्यों है। आज वह दिन भर यज्ञ-कुण्ड से पास कोने में बैठ कर रोता रहा। अभी मेरे बहुत कहने सुनने पर इन्धन के लिए वन की ओर गया है। उसके समान सरल, विनीत और सेवा में निपुण शिष्य को ब्रह्मविद्या से अभी तक उपेक्षित क्यों किया गया है? मैं चहती हूँ कि उसे भी शीघ्र ही दीक्षित कर गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये। नहीं तो ये अग्नियाँ आप को उलाहना देंगी।'

सत्यकाम ने पत्नी की बातें अनुसुनी कर दी और बिना कुछ उत्तर दिये ही सन्ध्यावन्दन में लग गये। थोड़ी देर तक वह खड़ी रहीं पर पर जब देखा कि सत्यकाम प्राणायाम खींच रहे हैं तो मन में मसोस कर घर के दूसरे कामों में लग गयीं। उधर उपकोसल ने अग्नियों की विधिवत् आराधना की, उसे यह आशा हो गई कि गुरुपत्नी के आश्वासन निष्फल होने वाले नहीं हैं। इधर सन्ध्यावन्दन से निवृति होकर सत्यकाम ने उपकोसल से बातें भी नहीं कीं और प्रतिदिन की तरह अग्न्याधान के मंत्रों का सस्वर पाठ भी उससे नहीं कराया।

दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम लम्बी यात्रा के लिए चले गये और जाते समय पत्नी से कह गये कि जब मैं पुनः आश्रम में वापस नहीं आता तब तक शाला की अग्नियों की सेवा सारा भार उपको-

सल पर है और अन्य छात्रों का पाठारम्भ मेरे आने पर होगा। इन नवीन छात्रों की देख-भाल भी उपकोसल करेगा। सत्यकाम के इन गूढ़ वचनों से पत्नी के निराश मन में कुछ आशा का संचार हुआ पर गुरु के लम्बी यात्रा पर चले जाने और जाते समय एकदम मौन रहने के कारण उपकोसल को बहुत दुखः हुआ। मानसिक अशान्ति ने उसके आहत हृदय को एकदम विचलित कर दिया और वह बहुत दुखी होकर अनशन करने पर उतारू हो गया। पर इस निश्चय के कर लेने पर भी उसने अग्नियों की आराधना से मुख नहीं मोड़ा।

सायंकाल अन्य शिष्यों से उपकोसल के अनशन का समाचार सुन कर गुरुपत्नी को बहुत दुःख हुआ। वात्सल्य स्नेह से उनका दयालु हृदय भर आया और उपकोसल से पास जाकर उन्होंने कहा—'वत्स उपकोसल! तू किस लिये भोजन नहीं कर रहा है।"

उपकोसल उठकर खड़ा हो गया और हाथ जोड़ कर विनीत भाव से बोले—'मातः! मेरे मन में व्याधियों की बाढ़-सी आ गई है, मैं पहले तो केवल कुछ निराश था पर अब अनेक प्रकार की कठिनाइयों ने मेरी बुद्धि को विकृत कर दिया है अतः अब मैं कुछ भी न खा सकूँगा।'

गुरुपत्नी ने कहा—'ब्रह्मचारी! तेरी मानसिक व्याधियों को मैं जानती हूँ और यह भी जानती हूँ किन कठिनाइयों ने तेरी बुद्धि को विकृत कर रखा है। पर तुझे इस तरह परेशान नहीं होना चाहिए। तेरे गुरु इतने अनजान नहीं हैं कि वह तेरी कठिनाइयों और मानसिक व्याधियों को न जानते हों, या जान-बूझ कर टाल रहे हों। आज सबेरे का ही हाल है। यात्रा पर जाते समय उन्होंने कहा है कि 'शाला की अग्नियों की आराधना का सारा भार उपकोसल पर रहेगा।' इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि वह तुझे उस कार्य के योग्य समझते हैं। तू उठ और भोजन कर। इस तरह मेरे रहते हुए तू आश्रम में अनशन नहीं कर सकता।'

उपकोसल का शोक-विदग्ध हृदय गुरु के इस अज्ञात-स्नेह के समाचार को सुन लेने के बाद से तरंगित हो उठा। इस अभूतपूर्व सम्मान के संदेश ने उसके सूखते जीवन में संजीवनी डाल दी। कृतज्ञता से उसकी रोमावली पुलकित हो गयी। आँखों से प्रसन्नता के मोती चू पड़े और कण्ठ गद्‌गद हो गया। हाथ जोड़ कर उसने कहा—'मातः! आज रात को तो अनशन करने की मैंने प्रतिज्ञा कर ली है, क्योंकि मानसिक अशान्तियों के दूर करने का इससे सुगम कोई दूसरा उपाय नहीं है। किन्तु कल से मैं अनशन नहीं करूँगा। आप आज के लिए मुझे हृदय से क्षमा करें, क्योंकि मैं विवश हूँ।

गुरुपत्नी चुप हो कर चली गयीं। उपकोसल अग्नियों की सेवा में लीन हो गया। उस दिन और रात को उसने अपनी प्रतिज्ञा का पूर्ण पालन किया।

× × ×

ब्रह्मचारी उपकोसल के उस दिन निराहार रहने से अन्तर्यामी अग्नियों ने विचार किया कि इस शुद्ध हृदय तपस्वी ब्रह्मचारी ने इतने दिनों तक मन लगा कर हमारी सेवा की है। पर इसकी कामना आज तक पूर्ण नहीं हो सकी। इसने आज कुछ आहार भी नहीं किया है फिर भी हमारी सेवा में उसी तरह से दत्तचित्त है। इसकी सच्ची सेवा का फल हमें अवश्य देना चाहिए। जिस तरह से भी हो, हम लोग इसकी कामनाओं की पूर्ति करें।

रात के प्रथम प्रहर बीत जाने के बाद जब उपकोसल अग्निशाला में यज्ञ-कुण्ड के समीप मंत्रों का सस्वर उच्चारण करते हुए भक्ति-समेत समिध डाल रहा था, अचानक यज्ञकुण्ड से एक गम्भीर आवाज आयी—'ब्रह्मचारिन्! तेरी सेवा से मैं परम प्रसन्न हुआ हूँ। अपना अभिलषित वरदान तू मुझसे माँग।'

उपकोसल स्तम्भित हो गया। चारों ओर दृष्टि उठा कर उसने यज्ञशाला में देखा, पर कोई दिखाई नहीं पड़ा। वह कुछ भयभीत

हो गया क्योंकि बिना शरीर की मानव वाणी सुनने का अवसर उसे नहीं प्राप्त हुआ था। इसी बीच यज्ञ-कुण्ड से फिर आवाज आयी—'ब्रह्मचारी! तू भयभीत मत हो। मैं तेरी सेवाओं से प्रसन्न अग्नि हूँ। तू अपनी अभिलाषा का वरदान माँग।'

उपकोसल का भय विस्मय में बदल गया। रोमावलि खड़ी हो गयी, हृदय धड़कने लगा, पैरों में कँपकँपी आ गयी। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद काँपते हुए स्वर में वह बोला—'अग्निदेव! यदि आप सचमुच मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिए, जिसे जान कर संसार के कष्टों से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। इस संसार में जहाँ कहीं मैं दृष्टि डालता हूँ, सर्वत्र दुःखों का समुद्र उमड़ा दिखाई पड़ता है। अतः जिस तरह से भी इन दुःखों का अन्त हो वही उपदेश मुझे कीजिए।'

इतना कह उपकोसल चुप हो गया। थोड़ी देर तक यज्ञशाला में चारों ओर सन्नाटा रहा, फिर एकाएक अग्नि कुण्ड से एक परम तेजस्वी मानवाकृति बाहर निकली, जिसके शरीर से दिव्य तेज निकल कर चारों ओर फैल रहा था। यज्ञशाला के चारों ओर उस दिव्य शरीर प्रकाश का पुञ्ज देखते-देखते ही उद्भासित हो गया। अब तो उस दिव्य शरीर की ओर देखने की शक्ति उपकोसल में नहीं रही। उसकी आँखें मुँद गयीं, शरीर भय से काँपने लगा और चेतनाहीन होने लगा। वह मूर्छित होकर गिर पड़ा। थोड़ी देर के बाद उसने अनुभव किया कि कमल की पंखुड़ियों के समान कोमल, नवनीत के समान मृदु और हिम के समान शीतल सुखदायी अंगुलियों से उसकी पीठ पर कोई कुछ फेर रहा है, उसकी मिची हुई आँखों की पलकों से लेकर मुख और ललाट तक उन शीतल सुखदायी अंगुलियों ने जादू की लकड़ी की तरह फिर कर उसे नवीन चेतनता और एक दिव्य ज्योति का अनुभव कराया। उसे मालूम होने लगा मानो हृदय में शरत् पूर्णिमा की चाँदनी से सौगुनी अधिक प्रकाशमयी, शीतल, सुखदायिनी

कौमुदी खिली हुई है। मन में सौ गुना अधिक उत्साह हो आया है, अंग-प्रत्यंगों में विद्युत् प्रकाश की तरह स्फूर्ति की लहरें तरंगित हो रही हैं और हृदय वीणा के तारों को किसी ने उन्हीं मृदु अंगुलियों से गुद-गुदाकर झंकृत कर दिया है। वह उठ बैठा और सामने देख रहा है कि एक सौम्य मूर्ति ऋषि उसके सामने खड़े हैं। वह धन्य हो गया।

× × ×

दूसरे दिन प्रातःकाल उपकोसल बहुत सबेरे उठा और नित्यकर्म से निवृत्त होकर जब यज्ञशाला में पहुँचा तो उसके नवीन साथियों में से एक ने बड़े कुतूहल से पूछा—'भाई उपकोसल! आज तो तुम्हारी मुख की शोभा देखने योग्य है। तुम्हारे शरीर से तेज-सा छिटक रहा है। बात क्या है?'

उपकोसल ने सहज भाव से कहा—'भाई! यह मेरे उपवास का फल है। पूज्य माताजी का आशीर्वाद है, आराध्य गुरुदेव और उनकी आहुति अग्नियों की महान् कृपा है। मुझे तो अपने में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ रहा है।'

एक दूसरे साथी ने कहा—'नहीं भाई! बात सच है। मालूम होता है जैसे तुम रोज की अपेक्षा अधिक शान्त और सन्तुष्ट हो। मुखमण्डल हमारे अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब है, जो भावनाएँ भीतर होती हैं, वह मुखमण्डल पर बाहर दिखाई पड़ती हैं। मुझे लगता है कि जैसे तुम आज बहुत सन्तुष्ट और शान्त हो गए हो।'

उपकोसल ने दूसरे गुरुभाई का कुछ उत्तर नहीं दिया। केवल मुसकराते हुए उसकी ओर एक बार निहार कर वह अग्नियों की आराधना में तन मन से जुट गया। उस दिन दोपहर को गुरुपत्नी ने उसे यज्ञशाला के बाहर से पुकारा—'वत्स उपकोसल! कहाँ है? क्या अभी तक तूने कुछ खाया-पिया नहीं?' उपकोसल ने हाथ जोड़ कर प्रणाम करते हुए कहा—'मातः! सबेरे पानी पी लिया है, अभी मध्याह्न की आहुति डालने के बाद आहार की चिन्ता करूँगा।'

गुरुपत्नी ने देखा आज का उपकोसल कुछ दूसरा ही दिखाई पड़ रहा है। उन्होंने पूछा—'वत्स ! आज मैं देख रही हूँ कि तेरे मुख-मण्डल पर कल की तरह विषाद की रेखाएँ नहीं हैं, अंगों में ग्लानि का चिह्न नहीं है और तेरी आँखें तेरी मानसिक शान्ति और सन्तोष की साक्षी दे रही हैं।'

उपकोसल ने विनीत भाव से कहा—'मातः ! यह सब गुरुदेव, आप और अग्निदेव की मुझ हतभाग्य के ऊपर महान् कृपा है। मैं तो जैसा कल था वैसा ही आज भी हूँ !'

गुरुपत्नी को उपकोसल की निश्छलता और प्रसन्नता से बड़ा सन्तोष हुआ। बोलीं—'वत्स ! तूने कल भी कुछ खाया नहीं। आज मैंने तेरे लिए भी भोजन तैयार करके रखा है, समिधाओं को अभिसिंचित करके के बाद तू चले आना। देखना, कहीं बहाना मत बना देना।'

उपकोसल चुप होकर यज्ञशाला की ओर ताकने लगा। गुरुपत्नी आश्रम में चली गयीं और सब नये साथी उपकोसल के भाग्य पर ईर्ष्या करने लगे। एक ने ताना कसते हुए कहा—'भाई ! अब उपकोसल का क्या पूछना है ? उसे भोजन भी अब बना-बनाया मिल रहा है। अब उसके भाग्य के दिन शुरू हो गए हैं !'

दूसरे ने कहा—'भाई ! इतने दिनों तक बेचारे ने बड़ी ठोकरें खाई हैं, क्या तुम यह चाहते थे कि वह सारी उमर गुरुकुल में ही बिता दे। भगवान् सबके दिन फेरते हैं।'

उपकोसल चुपचाप अग्निकुण्ड के पास जाकर समिधाओं का अभिसिंचन करने लगा। मानों उसने किसी की बातों को सुना ही नहीं। दोपहर के बाद जाकर उसने गुरुपत्नी के हाथों से बना हुआ भोजन किया। बारह वर्ष के बाद इस प्रकार के अमृत तुल्य आहार को सम्मान पूर्वक प्राप्त कर उसने भी समझ लिया कि मेरे ऊपर गुरुदेव की सच्ची कृपा हो गई है।

रात फिर आयी। उपकोसल संध्या के नित्यकर्मों से अवकाश प्राप्त

कर कल रात को अग्नि द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मविद्या का चिन्तन करते हुए शान्त मुद्रा में एक कोने में बैठ गया। पहर रात बीतने के बाद वह नित्य की भाँति फिर यज्ञकुण्ड के समीप जाकर मंत्रों का सस्वर उच्चारण करते हुए भक्ति समेत समिधा डालने लगा। कल की तरह आज फिर यज्ञकुण्ड से आवाज आयी—'ब्रह्मचारिन्! मैं भी तेरी सेवा से परम प्रसन्न होकर तुझे वरदान देने के लिए आया हूँ। अपना अभिलषित वरदान तू मुझसे माँग।'

उपकोसल आज नहीं डरा। उसके हृदय में हर्ष की बाढ़-सी आ गयी। गद्‌गद् स्वर से वह बोला—'अग्निदेव! मुझे ब्रह्मविद्या के सिवा इस संसार में किसी अन्य वस्तु की कामना नहीं है। मुझे चारों चरणों समेत ब्रह्म का उपदेश मिले, यही चाहता हूँ।'

यज्ञकुण्ड की प्रदीप्त लपटों से कल की भाँति फिर वही दिव्य आकृति बाहर निकलते हुए बोली—'ब्रह्मचारिन्! कल तुझे ब्रह्म के एक चरण का उपदेश मिल चुका है। अब मैं तीन अंशों में प्रकट होकर तुझे ब्रह्म के शेष चरणों का उपदेश करूँगा। आज दूसरे चरण का उपदेश तुझे मैं दे रहा हूँ। कल और परसों शेष चरणों का उपदेश ग्रहण करना। किन्तु वत्स! इस बात का ध्यान रखना कि हम सब तुझे अग्न्याराधन तथा ब्रह्म अर्थात् आत्मा के यथार्थ तत्त्व का ही उपदेश करेंगे, तेरे आचार्य यात्रा से लौट कर तुझे इस ब्रह्म-विद्या के फल का उपदेश करेंगे। बिना उनके उपदेश को ग्रहण किये तेये तेरी यह विद्या पूर्ण नहीं होगी, निष्फल रह जायगी।'

उपकोसल ने हाथ जोड़ कर शीश झुकाते हुए कहा—'देव! मैं इतनी अज्ञता नहीं करूँगा कि आचार्य चरण की विद्या प्राप्त किए बिना गुरुकुल से चला जाऊँ।'

× × ×

कुछ दिनों के बाद सत्यकाम अपनी लम्बी यात्रा से वापस लौटे। वह कुछ दूर से दिखाई पड़े कि आश्रम में चहल-पहल मच गयी।

शिष्यों ने गुरुदेव के चरणों की धूल मस्तक में लगायी। किसी ने उनका कमण्डलु लिया और किसी ने मृगछाला। उस समय उपकोसल अग्नि की आराधना में लगा था अतः उसे कुछ पता नहीं था। सत्यकाम ने शिष्यों की भीड़ में उपकोसल को देखना चाहा, पर वह नहीं मिला। उन्होंने जान लिया कि उपकोसल में अब कितनी गम्भीरता आ गयी है। आश्रम में थोड़ी देर तक श्रम दूर करने के बाद उन्होंने शिष्यों को अपने-अपने काम पर जाने की आज्ञा दी और स्वयं यज्ञकुण्ड की ओर अकेले चल पड़े। शाला के द्वार पर पहुँच कर सत्यकाम ने देखा कि उपकोसल एकाग्र मन से मध्याह्न की सीमाओं को ठीक कर रहा है। उसके मुखमण्डल पर सूर्य के समान जाज्वल्यमान तेज विराज रहा है और जीभ वेदमंत्रों के उच्चारण में निरत है।

सत्यकाम ने मृदुस्वर में पुकारा—'वत्स उपकोसल!'

उपकोसल ने आखें उठा कर देखा तो चिरकाल के प्रवास के बाद गुरुदेव शाला के द्वार पर विराजमान हैं। समिधाओं को नीचे रख वह दौड़ पड़ा और गुरु के चरणों से लिपट गया। सत्यकाम ने उपकोसल को उठा कर छाती से लगा लिया। उन्होंने देखा कि उपकोसल के मुखमण्डल पर ऐसी प्रखर दीप्ति विराजमान है कि आँखें चकाचौंध हो रही हैं। उसकी आँखें आदि समस्त इन्द्रियाँ सात्त्विक प्रकाशपुंज से प्रदीप्त हैं, पूरे शरीर में ब्रह्मवर्चस् की पूर्ण छटा छिटक रही है। हर्ष में भर कर उन्होंने पूछा—'वत्स! तेरा मुख ब्रह्मज्ञानियों की तरह चमक रहा है। इन्द्रियों समेत सारे शरीर में ब्रह्म तेज-सा झलक रहा है। बता, तुझे कितने ब्रह्म का उपदेश दिया है?'

उपकोसल स्तम्भित हो गया। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद शिर को नीचे कर उसने कहा—'गुरुदेव! आपके बिना मुझे कौन उपदेश करता? आपके पहले यह अग्नियाँ अपने तेजोमय प्रकाश से अधिक जाज्वल्यमान् थी; पर आप के आने से तो यह भी मानो भयभीत हो गई हैं।'

सत्यकाम को उपकोसल का यह संकेत समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई। तुरन्त बोल पड़े—'वत्स ! मैं जानना चाहता हूँ कि अग्नियों ने तुझे क्या उपदेश किया ?'

उपकोसल थोड़ी देर चुप रहा। फिर उसने आदि से अन्त तक अग्नियों से जो कुछ उपदेश प्राप्त किया था, सत्यकाम को सब कह सुनाया।'

सत्यकाम ने सब कुछ सुनने के बाद कहा—'वत्स ! मैं समझ गया। इन अग्नियों ने तो तुझे इस लोक सम्बन्धी ज्ञान का ही उपदेश किया है, मैं तुझे उस पूर्ण ब्रह्म का उपदेश करूँगा, जिसका साक्षात् हो जाने पर पुरुष को लौकिक पापों का स्पर्श नहीं होता।'

उपकोसल ने कहा—'भगवन् ! यह सब आपकी अमोघ कृपा ही का फल है। अन्यथा कहाँ मुझ ऐसा हतभाग्य और कहाँ आप जैसा सर्वज्ञ गुरु !'

× × ×

तदनन्तर सत्यकाम ने उपकोसल को ब्रह्म का रहस्यमय सम्पूर्ण उपदेश किया और मांगलिक मुहूर्त में उसका समावर्तन संस्कार सम्पन्न कर गृहस्थ के लिए घर जाने की आज्ञा दी।[१]

---

[१]छान्दोग्य उपनिषद से

गार्गी और याज्ञवल्क्य

[७]

मगध-साम्राज्य की स्थापना के पहले भी उस देश का नाम मिथिला था, जहाँ पर आजकल दरभंगा, मुँगेर, शाहाबाद आदि बिहार के उत्तरी जिले फैले हुए हैं। मिथिला का राजवंश भारत की ऐतिहासिक राज-वंशावलि में बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता था। उसका मुख्य कारण यह था कि वहाँ के राजा लोग अपनी प्रजा को पुत्र के समान स्नेह की दृष्टि से देखते थे। वे उनकी हर एक बातों में सहायता करते थे। आजकल के राजाओं की तरह प्रजा को चूस कर, अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचा कर अपने निजी ऐशो-आराम के लिए धन इकट्ठा करने की ओर उनका ध्यान नहीं था। वे प्रजाओं के जनक अर्थात् पिता कहे जाते थे। पिता का काम है अपने बच्चों की रक्षा करना, उन्हें खाना कपड़ा देना, पढ़ा-लिखा कर योग्य बनाना, बीमारी में तन मन धन से दवा-दारू का प्रबन्ध रखना, सारांश यह कि सुख-दुख में सर्वत्र उनकी उन्नति और भलाई का ध्यान रखना। मिथिला के राजाओं का यह गुण खानदानी बन गया था, यही कारण है कि वे प्रायः सब के सब 'जनक' नाम से प्रसिद्ध हुए। प्रजा की रक्षा में और अपने पारलौकिक श्रेय की चिन्ता में अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रखते थे यही कारण है कि वे सब विदेह भी कहे जाते थे।

इसी मिथिला के एक राजा विदेह या जनक की यह कथा बतला रहा हूँ। वह राजा जनक अपने समय के एक बहुत बड़े राजा ही नहीं थे बल्कि बहुत बड़े विद्वान् और महात्मा भी थे। उस समय यद्यपि लोग ब्राह्मण गुरु से ही विद्या सीखने जाते थे किन्तु राजा जनक

से, क्षत्रिय होने पर भी, विद्या सीखने के लिए दूर-दूर से विद्यार्थी आते थे। यही नहीं, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, महात्मा और पण्डित भी किसी कठिन विषय के आ जाने पर उनसे आकर गुत्थी सुलझाते थे। इस तरह उनका जीवन इतना विचित्र और दुरंगी था कि लोग उनकी जीवन-चर्य्या सुन कर विस्मय में पड़ जाते थे।

एक बार उन्हीं राजा जनक ने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया, जिसमें संसार के कोने-कोने से ढूँढ़-ढूँढ़ कर विद्वान् पण्डित, महात्मा ऋषि, मुनि बुलाये गये। बड़ी धूमधाम से यज्ञ सम्पन्न हुआ और मंगल मुहूर्त में विद्वान् राजा जनक ने यज्ञाग्नि में पूर्णाहुति डाल कर यज्ञ की शेष क्रियाएँ भी समाप्त कर दीं, केवल कुछ पण्डितों को अतिरिक्त दक्षिणा देना बाकी रह गया। ठीक अवसर पर राजा के हृदय में एक कुतूहल जागा। उन्होंने सोचा कि आज इस विद्वन्मण्डली में यह निश्चय हो जाना चाहिए कि कौन सब से बड़ा विद्वान् और महात्मा पण्डित है। क्योंकि सभी अपने-अपने को बहुत बड़ा विद्वान् समझते हैं और एक दूसरे को अपमानित करने का अवसर ढूँढ़ते रहते हैं। इन फैसले के बाद कम से कम यह तो विदित ही हो जायगा कि इस समय का सबसे बड़ा विद्वान् कोई एक है!

राजा के उस यज्ञ में विशेष कर कुरु और पांचाल देश के पण्डितों में बड़ी होड़ चलती थी, वे सब के सब अपनी विद्या के मद में चूर रहते थे। राजा ने यज्ञ की समाप्ति कर प्रायः सभी विद्वानों को एक समान प्रचुर दक्षिणा देकर सन्तुष्ट किया और सब प्रसन्न मन से आशीर्वाद देकर अपने-अपने घर जाने का तैयारी में लग गये थे कि इसी बीच पण्डितों से आशीर्वाद ग्रहण कर राजा ने कुछ अन्न-जल ग्रहण करने की आज्ञा ले अन्तःपुर में प्रवेश किया। राजमहल के प्रवेश-द्वार पर पहुँच कर उसने अपनी गोशाला के प्रधान को बुला कर आज्ञा दी कि 'सहस्र गौओं को स्नान करा कर तैयार कराओ और अमात्य से जाकर कहो कि उनकी सींगों में दस-दस सुवर्ण की मुद्राएँ

बाँध दी जायँ। मैं जब तक भीतर से भोजन करके बाहर आ रहा हूँ तब तक यह सब प्रबंध हो जाना चाहिए।'

थोड़ी ही देर बाद भोजन कर अन्तःपुर से ज्यों ही राजा बाहर निकला त्यों ही इधर से गोशाला के अध्यक्ष ने समीप जाकर हाथ जोड़ कर निवेदन किया—'महाराज की आज्ञा से एक सहस्र गौएँ स्नान करा कर पुष्पादि अलंकरणों से सजा दी गई हैं।'

राजा ने कहा—'उनकी हर एक सींगों में दस-दस सुवर्ण मुद्राएँ भी बँध गई हैं न!'

प्रधान गोपालक ने कहा—'हाँ' महाराज! सब कुछ हो चुका है।'

राजा ने कहा—'उन्हें हँकवा कर यज्ञ-मण्डप के समीप लाकर खड़ी करो। देखना, कोई भाग न सकें ऐसा प्रबन्ध करना।'

प्रधान गोपालक ने हाथ जोड़ कर कहा—'जो आज्ञा महाराज।'

प्रसन्नमुख राजा यज्ञमण्डप में पहुँचा, जहाँ ब्राह्मण लोग अपने-अपने आश्रमों को लौटने की तैयारी करके उसके आने की उत्सुक प्रतीक्षा में थे। और इधर प्रधान गोपालक भी अपने अनुचरों समेत सहस्र गौएँ लेकर यज्ञशाला की ओर चल पड़ा। गौओं को आते देख ब्राह्मणों की मण्डली में एक कुतूहल और हर्ष का पारावार-सा उमड़ पड़ा। सबने समझा कि शायद राजा हमें एक-एक गौएँ और अधिक दान करना चाहता है।

राजा के पहुँचते ही सब पण्डित लोग उसे घेर कर चारों ओर से खड़े हो गये और शीघ्र अपने-अपने घर जाने की आज्ञा प्राप्त करने की प्रतीक्षा करने लगे।

थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद राजा ने कुछ गम्भीर स्वर में कहा—'हे पूजनीय ब्राह्मणो! आप लोगों ने इस दास के ऊपर जिस प्रकार की कृपा करके इतने दिनों तक सच्चे हृदय से यज्ञ सम्पन्न करने में सहायता पहुँचाई है, उसके लिए यह आपका चिर कृतज्ञ रहेगा। यज्ञ में इतने दिनों तक एक साथ रहने से आप लोगों को

बहुत सारे कष्ट सहन करने पड़े होंगे। मेरे अज्ञ अनुचर आपकी सेवा भी भली तरह नहीं करते होंगे, इसके लिए आप सब मुझे हृदय से क्षमा करें। आप लोगों के समान तेजस्वी एवं विद्वान ब्राह्मणों की कुछ सेवा करने का मुझे जो यह अवसर मिला है, वह कई जन्मों के पुण्य का फल है। मैं अपनी खुशी का वर्णन किन शब्दों में करूँ। आप सबके उपकारों से मेरे रोम-रोम बिके हुए हैं।'

ब्राह्मणों की मण्डली में चारों ओर से 'साधु-साधु' की ध्वनि होने लगी। ब्राह्मणों के निर्मल हृदय में राजा जनक की इस विनीत भावना ने एक अमिट छाप छोड़ दी। सबके सब कृतज्ञता के प्रवाह में बहने-से लगे। इसी बीच प्रधान गोपालक गौओं को चारों ओर से घेर कर खड़ी कर चुका था।

राजा ने गम्भीर भाव से एक बार गौओं की भीड़ की ओर दृष्टि डाली और फिर थोड़ी देर तक चुपचाप रहने के बाद ब्राह्मणों की ओर दाहिना हाथ उठा कर विनीत स्वर में कहा—'पूज्य ब्राह्मणो! मैं चाहता हूँ कि आप सब लोगों में जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ हों वे इन सब गौओं को हाँक कर अपने घर ले जायँ। उसी सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् एवं महात्मा के चरणों में भेंट करने के लिए मैंने इन्हें यहाँ खड़ी कराया है।'

राजा के इन विनत शब्दों ने ब्राह्मण-मण्डली के कोलाहल को एकदम शान्त कर दिया। कुछ ने स्पष्ट सुना और कुछ ने अधूरा सुन कर भी सब कुछ जान लिया। थोड़ी देर तक तो सारी भीड़ मूर्ति की तरह निश्चेष्ट बनी रही, क्योंकि सभी यह जानते थे कि राजा जनक के सामने अपनी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा का दावा करना आसान काम नहीं है। थोड़ी देर बाद कुछ आचार्यों के शिष्यों ने अपने-अपने गुरु के कान के पास जाकर एक सहस्र गौओं को एक साथ पाने का लोभ फुसफुस शब्दों में प्रकट किया; पर आचार्यों की हिम्मत ने जनक के सामने अपनी विद्वत्ता प्रकट करने की धृष्टता से

साफ इनकार कर दिया। वे शिर हिला-हिला कर इधर-उधर ताकने लगे। थोड़ी देर तक इस नीरवता ने राजा जनक के उस यज्ञमण्डप में अपना अधिकार और जमाया, जहाँ पर अभी थोड़ी देर पहले तुमुल कोलाहल मचा हुआ था। यज्ञ-कुण्ड से निकलने वाली धूम की सुगन्धित काली रेखा मानो उन सभी ब्राह्मणों की भर्त्सना करती हुई ऊपर चढ़ी जा रही थी; पर वे सब के सब चुप ही बने रहे। किसी में बोलने की हिम्मत नहीं आयी।

थोड़ी देर बाद इस नीरवता को याज्ञवल्क्य के इन गम्भीर शब्दों ने तोड़ दिया। समुपस्थित सभी लोगों ने उत्कण्ठित मन से सुना कि वे अपने शिष्य को सम्बोधित कर कह रहे हैं—'प्रिय दर्शन सामश्रवा! इन समस्त गौओं को हाँक कर अपने आश्रम की ओर ले चलो।'

याज्ञवल्क्य के मुँह से इन शब्दों के निकलने भर की देर थी कि उनके उत्साही शिष्य गौओं के पास पहुँच कर चारों ओर से हाँकने लगे। उस समय याज्ञवल्क्य का मुखमण्डल तेज से प्रदीप्त हो उठा था और उनके स्वर में धीरता एवं गाम्भीर्य का मिश्रण था। ब्राह्मणों ने देखा कि वह राजा के पास पहुँच कर कह रहे थे—'राजन्! अब आज्ञा हो तो आश्रम को चलूँ क्योंकि वहाँ से आए हुए काफी दिन बीत गये, पता नहीं शिष्यों की पढ़ाई ठीक से चल रही है या नहीं।

सभा में उत्तेजना की एक छिपी लहर-सी फैल गयी, क्योंकि याज्ञवल्क्य के शिष्य गौओं को हाँक कर थोड़ी दूर निकल गए थे और इधर राजा जनक भी याज्ञवल्क्य की विदाई के लिए चल पड़े थे। बड़े-बड़े वयोवृद्ध एवं शान्त आचार्यों में भी याज्ञवल्क्य की इस धृष्टता ने खलबली मचा दी; पर किसी में अग्रसर बनने की क्षमता नहीं रही।

राजा जनक के प्रधान होता ऋत्विज अश्वल से नहीं रहा गया,

क्योंकि उन्हें यह पता था कि भूमण्डल भर के विद्वानों में उनसे वयोवृद्ध एवं सम्मानित दूसरा कोई नहीं था। इसके अतिरिक्त अपने यजमान की दक्षिणा को एक बाहरी उद्धत युवक सर्वश्रेष्ठ विद्वान् एवं ब्रह्मनिष्ठ बन कर ले जाय, यह मृत्यु से कम दुःखदायी नहीं है। अपशय ही तो सच्ची मृत्यु भी है। इस तरह अपमानित होकर फिर से राजा जनक की आँखों में अपनी पूर्व-प्रतिष्ठा का प्राप्त करना मुश्किल था। वे एकदम विचलित से हो गये और पीछे से याज्ञवल्क्य के आगे खड़े होकर रूखे स्वर में बोल पड़े—'याज्ञवल्क्य! क्या तुम्हीं हम सब में सब से बड़े विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ हो, जो इन गौओं को हँकाए हुए चले जा रहे हो?'

अश्वल के ओंठ काँप रहे थे, दिल धड़क रहा था और स्वर कण्ठ सूख जाने के कारण फटा हुआ था।

याज्ञवल्क्य खड़े हो गये। पीछे-पीछे चलने वाले राजा जनक भी अश्वल की ओर मुँह करके खड़े हो गये। पीछे की सारी विद्वन्मण्डली भी इधर-उधर खड़ी होकर उत्सुक कानों से याज्ञवल्क्य का उत्तर सुनने के लिए चुप हो गयी। पर याज्ञवल्क्य भी अभी चुप खड़े थे। फिर थोड़ी देर तक इधर-देखकर याज्ञवल्क्य ने मुसकराते हुए कहा—'भाई! इस उपस्थित ब्राह्मण-मण्डली में जो सब से बड़ा विद्वान् तथा ब्रह्मनिष्ठ है उसे मैं सादर नमस्कार करता हूँ। आपने यह कैसे जान लिया कि मैं सर्वश्रेष्ठ विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ बनने की धृष्टता कर रहा हूँ। मुझे तो इन गौओं की चाह थी, इसीलिए ले जा रहा हूँ।'

अश्वल को अपनी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा पर पूरा भरोसा था, राजा जनक के प्रधान होता के पद पर इतने दिनों तक रह कर वे देश-देशान्तर के पण्डितों पर अपनी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा की धाक जमा चुके थे। उद्धत याज्ञवल्क्य के इस शान्त उत्तर ने भी उन्हें झकझोर दिया। अपमानित करने की भावना उनमें प्रबल रूप से जाग उठी, स्वर को कठोर बनाते हुए वे बोले—'याज्ञवल्क्य! अपनी विद्वत्ता और

ब्रह्मनिष्ठा को। बिना प्रकट किए हुए तुम गौओं को हँका कर नहीं ले जा सकते। महाराज ने पहले ही यह बात प्रकट कर दी है। क्या तुम समझते हो कि हममें से किसी के मन में इन एक सहस्र सुवर्णमण्डित गौओं की चाह नहीं है। धृष्ठता मत करो और अपने शिष्यों को रोको, जब तक मेरे प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं दे लोगे तब तक गौओं को नहीं ले जा सकते।'

याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों को गौएँ खड़ी करने का आदेश देकर अश्वल से मुसकराते हुए विनीत स्वर में कहा—'भाई! गौएँ खड़ी हैं। आप जो प्रश्न चाहें मुझसे कर सकते हैं!'

अश्वल ने थोड़ी देर तक सोचा विचारा। फिर याज्ञवल्क्य की ओर दाहिना हाथ उठा कर कहा—'याज्ञवल्क्य! क्या तुम यह बतला सकते हो कि किस प्रकार ये हवन करने वाले होत्रीगण मृत्यु को पार कर मुक्त हो सकते हैं?'

याज्ञवल्क्य ने बिना रुके हुए कहा—'अश्वल! चारों प्रकार के होत्रियों को उस नित्य भाव का, जो इनके कर्मों के पीछे है, ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अर्थात् उन्हें ऋचाओं का पाठ करना, छन्दों का गान करना, आहुति देना, और पूजन का काम करना चाहिए। इनकी स्थिति वाणी, प्राण, चक्षु और मन पर है। किन्तु मन से उस अनन्त का ध्यान करना चाहिए जो सब के पीछे है। उसी अनन्त को प्राप्त करने के बाद होत्रीगण मृत्यु को प्राप्त कर मुक्त हो सकते हैं। केवल कर्मों से मुक्ति की प्राप्ति या मृत्यु का भय दूर नहीं हो सकता।'

राजा जनक ने 'साधु' कह कर याज्ञवल्क्य के उत्तर की सत्यता पर अपनी मुहर लगा दी। अश्वल चुप हो गये और सारी ब्राह्मण-मण्डली में थोड़ी देर के लिए फिर सन्नाटा-सा छा गया।

इसके बाद भीड़ को चीर कर आगे बढ़ते हुए जरत्कारु के वंशज ऋतुभाग के पुत्र आर्तभाग ने राजा जनक के सामने खड़े होकर याज्ञवल्क्य को सम्बोधित करते हुए कहा—'याज्ञवल्क्य! मेरे प्रश्न का

उत्तर दिए बिना तुम्हारी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा की पुष्टि नहीं हो सकती। बोलो, तैयार हो मेरे प्रश्न का उत्तर देने के लिये ?'

याज्ञवल्क्य ने मुसकराते हुए सहज स्वर में कहा—'आर्तभाग ! मैं आपके एक नहीं अनेक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए तैयार हूँ, आप पूछ सकते हैं।'

आर्तभाग ने कुछ देर तक सोचने-विचारने के बाद पूछा—'याज्ञ-वल्क्य ! यह तो सभी जानते हैं कि मृत्यु इस संसार में सबको खा जाती है; मगर उस मृत्यु को कौन खाता है ?'

याज्ञवल्क्य ने सहज भाव से कहा—'मृत्यु अग्नि है, जो सब को जला देती है, किन्तु जिस तरह साधारण अग्नि को भी जल खा लेता है उसी तरह उस मृत्यु अग्नि को भी शक्ति का जल खा लेता है अर्थात् वह शक्ति का समुद्र जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है उस मृत्यु का भी भक्षक है।'

आर्तभाग चुप हो गये। थोड़ी देर तक चुप रहे,फिर बोले—'क्या मनुष्य के मरने के बाद उसकी इन्द्रियाँ उसके साथ-साथ जाती हैं।'

'नहीं, वे तो उसके शव साथ रह जाती हैं।' याज्ञवल्क्य ने कहा।

आर्तभाग ने कहा—'तो फिर उसके साथ क्या जाता है ?'

'उसका नाम।' याज्ञवल्क्य ने कहा।

आर्तभाग ने कुछ रुष्ट होकर कहा—'याज्ञवल्क्य ! इतना मैं भी जानता हूँ, तनिक स्पष्ट करके समझाओ। मैं यह पूछ रहा हूँ कि जब मनुष्य मर जाता है और उसका शरीर तथा इन्द्रियाँ नष्ट हो जाती हैं तब फिर उसका क्या बच रहता है ?'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'तात आर्तभाग। इसकी बातचीत सबके सामने नहीं हो सकती। हम दोनों महाराज के साथ एकान्त में चलें तब वहीं मैं दृष्टान्त के साथ इसका पूर्ण उत्तर आपको दे सकूँगा, आप अगर चाहें तो विद्वन्मण्डली से कुछ और विद्वानों को साथ ले चल सकते हैं।'

आर्तभाग सहमत हो गये और राजा जनक तथा दो चार प्रमुख वयोवृद्ध मुनियों के साथ एकान्त स्थल में चले गये। वहाँ दोनों बड़ी देर तक शास्त्रार्थ करते रहे। अन्त मे जो कुछ निश्चय हुआ उसका तात्पर्य यही था कि 'मानव जीवन का सर्वस्व उसका कर्म है। वही सब से प्रशस्त और पूज्य है। अच्छे कर्मों से मनुष्य अच्छा होता है और बुरे कर्मों से बुरा। मरने के बाद यही कर्म ही शेष रह जाते हैं।'

उस एकान्त स्थल से वापस लौट कर आर्तभाग ने विद्वन्मण्डली की ओर मुँह करके उच्च स्वर में कहा—'विद्वानों! मेरे प्रश्नों का उत्तर देकर याज्ञवल्क्य ने अपनी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा का पूर्ण परिचय दिया है। मैं तो इन्हें इन गौओं को ले जाने का अधिकारी मानता हूँ। यदि आप लोगों में से कोई इनसे कुछ पूछना चाहे तो सामने आकर पूछे।'

तदन्तर सभा की थोड़ी देर की नीरवता को भंग करते हुए लाह्य के पुत्र भुज्यु नामक आचार्य भीड़ से बाहर आकर राजा जनक और याज्ञवल्क्य के सामने खड़े हुए। उस समय उनका मुख तेज की अधिकता से चमक रहा था और सफेद दाढ़ी छाती तक नीचे लटक कर उनकी विद्वत्ता के साथ-साथ वयोवृद्धता की भी सूचना दे रही थी। थोड़ी देर तक याज्ञवल्क्य की ओर निर्निमेष ताकने के बाद भुज्यु ने कहा—'याज्ञवल्क्य! मैं एक बहुत छोटा सा प्रश्न कर रहा हूँ। उसका उत्तर देने के बाद तुम मेरी दृष्टि में सब से अधिक विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ सिद्ध होगे।'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'भगवन्! आप बड़ा से बड़ा प्रश्न कर सकते हैं, मैं यथामति सब का उत्तर देने के लिये तैयार हूँ।'

भुज्यु याज्ञवल्क्य की विनीत दर्पोक्ति से पहले तो सहम गये फिर गम्भीर होकर बोले—'याज्ञवल्क्य! मैं यह जानना चाहता हूँ कि परीक्षित आदि नृपतिगण, जो अपने समय के बड़े दानी और यज्ञशील थे, मृत्यु के बाद कहाँ चले गए?'

याज्ञवल्क्य ने बिना रुके हुए कहा—'तात भुज्यु ! आपने बहुत सुन्दर प्रश्न किया। मृत्यु के बाद परीक्षित आदि भी वहीं गए जहाँ वे सब मनुष्य जाते हैं, जो उन्हीं की तरह अश्वमेध यज्ञ करते हैं और दान देते हैं।'

भुज्यु ने रुष्ट स्वर से कहा—'वह स्थान कहाँ है ? इसी पृथ्वी पर या समुद्र में ?'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'वह स्थल इस पृथ्वी और समुद्र के पार है।'

भुज्यु ने कहा—'इस पृथ्वी और समुद्र से कितने अन्तर पर वह स्थल है, इसे मैं जानना चाहता हूँ।'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'ताता भुज्यु ! वह स्थल इस लोक से छुरे की तेज धार अथवा मक्खी के पंख जितने सूक्ष्म अन्तर पर है। पर उसे हम देख नहीं सकते। उसी स्थल पर वे सब मनुष्य भी परीक्षित आदि के साथ निवास करते हैं, जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया है और प्रचुर दक्षिणाएँ दी हैं।'

भुज्यु ने कहा—'मैं यह जानना चाहूँगा कि उन्हें वहाँ पहुँचाता कौन है ?

'वे सब वहाँ वायु द्वारा पहुँचते हैं, जिसकी सर्वत्र अबाध गति है !' याज्ञवल्क्य ने कहा।

राजा जनक याज्ञवल्क्य के इस उत्तर से पुलकित हो उठे। अपने हार्दिक हर्ष को सूचित करते हुए बोले—'ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य ! आपके इस समुचित उत्तर की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। महात्मन् ! आपकी विद्वता सराहनीय है।'

भुज्यु चुप हो गये और सारी ब्राह्मण-मण्डली याज्ञवल्क्य के तेजस्वी ललाट एवं कमल के समान प्रफुल्लित मुखमण्डल की ओर ताकने लगी। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद भुज्यु ने भी आर्तभाग की तरह याज्ञवल्क्य की विद्वता और ब्रह्मनिष्ठा को विनीत शब्दों में स्वीकार करते हुए कहा—'विद्वद्वृन्द ! निस्सन्देह याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता

इतनी महान् हैं कि वह एक सहस्र गौओं को ले जा सकते हैं। अब आप सब में जिसे कुछ और पूछना हो वह सामने आकर पूछ सकते हैं।

भुज्यु के चाप होते ही चक्र के पुत्र उषस्ति, जिन्हें अपनी विद्या और ब्रह्मनिष्ठा पर पूरा विश्वास था, भीड़ से आगे आकर याज्ञवल्क्य के सामने खड़े हो गये और गम्भीर वाणी में बोले—'याज्ञवल्क्य! वह ब्रह्म या आत्मा जो सब के भीतर है और जिसको हम प्रत्यक्ष देख सकें क्या है?'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'भगवन् उषस्ति! वह तुम्हारी ही आत्मा है, जो सब वस्तुओं के भीतर है। वही तुम्हारे प्राणवायु को भीतर खींचती है और अपान वायु को बाहर निकालती है। किसी वस्तु का ज्ञान केवल मन से या दसों इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है; परन्तु इन दोनों से भी उस आत्मा को कैसे जान सकते हैं जो सब से अधिक विचारणीय शब्दों को ग्रहण करने वाली और समस्त ज्ञान को जानने वाली है। वह इतनी सूक्ष्म और इतनी महान् है कि मन समेत इन इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हो सकती। वह जिस तरह तुममें प्रविष्ट है उसी तरह सब में प्रवेश किए हुए है।'

उषस्ति चुप हो गये। और बड़ी देर तक चुप रहने के बाद विद्वानों को मण्डली की ओर मुख करके बोले—'विद्वानों! याज्ञवल्क्य सचमुच परम विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ हैं। मुझे तो इनसे अब कुछ भी नहीं पूछना है। आप लोगों में से यदि किसी को कुछ पूछना है तो आकर पूछ लीजिए अन्यथा बेकार में देर हो रही है।'

थोड़ी देर तक सभी आपस में एक दूसरे का मुख देखते रहे, और फिर कुशीतक के पुत्र कहोल सब को उत्सुक बनाते हुए भीड़ से निकल कर राजा जनक और याज्ञवल्क्य के सम्मुख खड़े हुए। थोड़ी देर तक आकाश की ओर ताकने के बाद कहोल ने कहा—'याज्ञवल्क्य! तुमने जिस ब्रह्म या आत्मा के बारे में अभी-अभी यह बतलाया है कि वही सब के भीतर प्रवेश किए हुए हैं और उसको

मन या इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते उसको हम किस तरह प्राप्त कर सकते हैं ? मेरे इस प्रश्न का उत्तर देकर तुम अपनी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा का सच्चा परिचय दे सकते हो !'

याज्ञवल्क्य ने सहज भाव में कहा—'तात कहोल ! उस आत्मा या ब्रह्म को पाना बहुत सहज काम नहीं है। उसके लिए कोशिश करो। वह तुम्हारे भीतर ही है। उसे भूख प्यास, सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। वृद्धता और मृत्यु का भी दुःख उसे नहीं होता एवं अज्ञान भी उसे नहीं घेरता। अतः उसे प्राप्त करने के लिए इन सब को छोड़ना पड़ता है, अर्थात् सारी कामनाओं का त्याग करने के बाद ही उसकी प्राप्ति सम्भव है। सन्तान, धन, राज्य आदि की सारी कामनाएँ एक ही प्रकार की होती हैं। उन सब को छोड़ कर ज्ञान और मानसिक बल की प्राप्ति होती है। मानसिक बल और ज्ञान जब कुछ स्थायी और दृढ़ बन जाता है तब मनुष्य मुनि अर्थात् संसार के सभी विषयों का विचार और मनन करने वाला होता है। उसे यह विदित हो जाता है कि यह पदार्थ विचारणीय है और यह नहीं। और इस स्थिति में पहुँच कर जब दोनों का अन्तर स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है तब उस ब्रह्म या आत्मा की प्राप्ति होती है। उस समय मनुष्य जैसी कोशिश करता है वैसा ही बन भी जाता है।'

निश्छल कहोल का मुख प्रसन्नता से खिल उठा। राजा जनक भी याज्ञवल्क्य के इस समुचित उत्तर पर बोल पड़े—'साधु महात्मन् याज्ञवल्क्य ! साधु, आप जैसे विद्वान् ही इस प्रकार का उत्तर देने की क्षमता रखते हैं।' सारी विद्वन्मण्डली चुप हो गयी, और याज्ञवल्क्य के शिष्यों का समूह प्रसन्नता से नाच उठा।

इस प्रकार थोड़ी देर तक ब्राह्मणों की मण्डली में भारी सन्नाटा छा गया। याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता ने मानों सब पर जादू की लकड़ी फेर दी, अब उस लम्बी भीड़ में न कोई कुछ बोलता था और न इधर-उधर कानाफूसी ही करता था। फिर वचक्नु की पुत्री गार्गी

और अरुण के पुत्र आरुणि उद्दालक ने भी याज्ञवल्क्य से अनेक गम्भीर प्रश्न किए, जो सब ब्रह्म और जीव से सम्बन्ध रखने वाले थे; परन्तु याज्ञवल्क्य ने उन सबका हँसते-हँसते ऐसा उत्तर दिया कि वे दोनों भी चुप हो गये।

वचक्नु की पुत्री गार्गी की प्रतिभा और विद्वत्ता की उस समय बड़ी प्रतिष्ठा थी, उसकी वाग्मिता और तर्कशैली के सामने बड़े-बड़े विद्वान् मूक हो जाते थे। सब को आशा थी कि याज्ञवल्क्य गार्गी को निरुत्तर नहीं कर सकते; किन्तु गार्गी को इस तरह चुप देख कर सबको बड़ा विस्मय हुआ। अब गार्गी के प्रशंसकों से नहीं रहा गया और वे पुन: प्रश्न करने के लिए उसे बाध्य करने लगे। थोड़ी देर तक तो वह चुप रही फिर आगे बढ़ कर सब ब्राह्मणों से बोली—'पूज्य ब्राह्मणो! इन याज्ञवल्क्य ने यद्यपि मेरे प्रथम प्रश्नों का उत्तर देकर मुझे चुप कर दिया है, किन्तु मैं दो अमोघ प्रश्नों को अभी इनसे फिर पूछना चाहती हूँ। यदि उन दोनों प्रश्नों का उत्तर यह दे सके तो मैं फिर यह मान लूँगी कि आपमें से कोई भी इस महान् पण्डित एवं ब्रह्मवादी को नहीं जीत सकेंगे।'

ब्राह्मणों में से जो प्रमुख थे सब ने एक स्वर से कहा—'गार्गी! तुम अपने उन दोनों प्रश्नों को अवश्य पूछो।'

गार्गी थोड़ी देर तक चुप रही फिर गम्भीर स्वर में बोली—'हे याज्ञवल्क्य! जैसे वीरपुत्र विदेहराज या काशिराज युद्धक्षेत्र में एक बार उतारी हुई डोरी वाले धनुष पर फिर से डोरी चढ़ा कर शत्रु को अत्यन्त पीड़ा पहुँचाने वाले दो बाणों को हाथ में लेकर शत्रु के सामने खड़े होते हैं उसी प्रकार दो महान् प्रश्नों को लेकर मैं आपके सामने खड़ी हूँ। आप यदि सच्चे ब्रह्मवेत्ता हैं तो इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देकर मुझे सन्तुष्ट करें।'

याज्ञवल्क्य ने मुसकराते हुए कहा—'गार्गी! तुम दो चार छः प्रश्न पूछ सकती हो। याज्ञवल्क्य प्रश्नों से घबरानेवाले नहीं हैं।'

गार्गी कुछ सहम-सी गयी। फिर वाणी को कुछ गम्भीर बनाते हुए बोली—'याज्ञवल्क्य। जो इस ब्रह्माण्ड से ऊपर है और ब्रह्माण्ड से नीचे भी कहा जाता है, और जिसमें द्युलोक, पृथ्वी, भूत, वर्तमान, भविष्य सब ओतप्रोत हैं, वह क्या है ?'

'वह सर्वव्यापी आकाश है।' सहज स्वर में याज्ञवल्क्य ने कहा।

इस सरल, संक्षिप्त और स्पष्ट उत्तर को सुनकर गार्गी बहुत प्रसन्न हुई। उसने कहा—'याज्ञवल्क्य ! आपने मेरे इस प्रश्न का जो ऐसा सरल और स्पष्ट उत्तर दिया है उसके लिये मैं आपको नमस्कार करती हूँ। अब आप दूसरे प्रश्न के लिये तैयार हो जायँ।'

याज्ञवल्क्य ने सरलता से कहा—'गार्गी ! तुम पूछ सकती हो।'

गार्गी ने उसी अपने प्रश्न को और याज्ञवल्क्य के उत्तर को एक बार फिर दुहराया और उसी में तर्क करते हुए पूछा—'याज्ञवल्क्य ! आप कह रहे हैं कि यह चराचर जगद्रूप सूत्रात्मा तीनों कालों में सर्वदा, सर्वव्यापी एवं अन्तर्यामी आकाश में ओतप्रोत है तो मैं यह जानना चाहती हूँ कि वह आकाश किसमें ओतप्रोत है ?'

याज्ञवल्क्य थोड़ी देर तक चुप रहे फिर गम्भीरतापूर्वक गार्गी की ओर दाहिना हाथ उठा कर बोले—'गार्गी ! ब्रह्म के जानने वाले उसको अक्षर अर्थात् अविनाशी कहते हैं। वह न स्थल है न सूक्ष्म है। न छोटा है न बड़ा है। न अग्नि की तरह लाल है न जल की तरह पतला और तरल। उसमें न छाया है न तिमिर है। न वायु है, न आकाश है, वह एकदम असंग है। उसमें न रस है न गन्ध है। आँख, कान, वाणी मन, तेज, प्राण, मुख एवं परिमाण भी उसमें नहीं है। न वह अन्दर है न बाहर है। वह स्वयं न तो कुछ खाता है और न कोई उसे ही खा सकता है। इस प्रकार वह संसार से सभी विशेषणों से नितान्त रहित है। हे गार्गी ! उसी अक्षर की आज्ञा से सूर्य और चन्द्रमा अपने-अपने स्थान पर नियमित रूप से स्थिति हैं। ध्रुवलोक और पृथ्वी की स्थिति में भी अक्षर की आज्ञा मूल कारण है। क्षण, घण्टे, दिन, रात, पक्ष,

महीना, ऋतु, साल, सब अपने-अपने स्थान में उसी के अनुशासन से स्थित हैं। हे गार्गी! यही नहीं, वह इतना महान् एवं महिमामय है कि उसी के गूढ़ अनुशासन से शासित नदियाँ वर्फीले पर्वतों से निकल कर कुछ पूर्व की ओर बहती हैं और कुछ पश्चिम की ओर। हे गार्गी! उस परम नियन्ता अक्षर को बिना जाने हुए जो लोग एक सहस्र वर्ष तक होम, यज्ञ अथवा तपस्या करते हैं, उनके उन सब कर्मों का फल विनाशशील होता है। उसको बिना जाने हुये जो इस लोक से जाता है वह कभी दुःखों से छुटकारा नहीं पाता। और जो भली भाँति उसको जान कर इस लोक से प्रस्थान करता है वही सच्चा ब्राह्मण है।

'हे गार्गी! वह सुप्रसिद्ध अविनश्वर किसी को नहीं दिखाई पड़ता पर वह सब को देखता है। उसकी आवाज को कोई सुन नहीं सकता पर वह सब की आवाज सुनता है। उसे कोई जान नहीं सकता पर वह सब को जानता है। उसके सिवा इस संसार में न कोई देखने वाला है न कोई सुनने वाला, न कोई समझने वाला है, है जानने वाला। हे विदुषि गार्गी! उसी अक्षर में यह आकाश ताने-बाने की भाँति बुना हुआ है।'

महर्षि याज्ञवल्क्य के इस विस्तृत एवं विलक्षण व्याख्यान को सुन कर गार्गी समेत सारी ब्राह्मण सभा सन्तुष्ट हो गयी। राजा जनक प्रसन्नता से विह्वल होकर 'साधु-साधु' करने लगे। थोड़ी देर बाद गार्गी गद्‌गद् कंठ से ब्राह्मणों की ओर हाथ उठा कर बोली—'हे पूज्य ब्राह्मणों! इस परम विद्वान् एवं ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य को सब नमस्कार करो। इसे पराजित करने की बात कल्पना से भी परे है।'

गार्गी की बात सुन कर सारी ब्राह्मण-मण्डली अवाक् रह गयी। किन्तु सकल के पुत्र शाकल्य से जिनका दूसरा नाक विदग्ध भी था, नहीं रहा गया। विद्वत्ता के नाते अपने शिष्यों में उनकी खासी प्रतिष्ठा थी। भीड़ से आगे बढ़ते हुए वे बोले—'यज्ञवल्क्य! मैं तुम से यह

पूछना चाहता हूँ कि इस संसार में देवता कुल कितने हैं, जिनकी मनुष्य को पूजा करनी चाहिये !'

याज्ञवल्क्य ने कुछ असन्तुष्ट होकर कहा—"विदग्ध ! इस संसार में ३००३, ३०३, ३३, ६, ३, २, १½ और एक देवता माने जाते हैं। किन्तु वास्तव में देवता तो ३३ ही हैं। ३००३ या ३०३ उनकी महिमा है। यह ३३ देवता इस प्रकार से हैं। ८ वसुगण, ११ रुद्रगण, १२ आदित्यगण, १ इन्द्र तथा १ प्रजापति। आठों वासुओं में अग्नि, पृथ्वी, सूर्य, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, चन्द्रमा, और नक्षत्र हैं। ग्यारह रुद्रों में दस इद्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ) और एक मन है। बारह आदित्यों में बारह महीनों की गणना है। इन्द्र वर्षा और गर्जन का देवता है तथा प्रजापति वृद्धि का। अन्य ६ देवताओं में अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य और द्यौ की गणना है। ३ देवता तीनों लोक हैं, जिसमें सब देवता गण वास करते हैं, दूसरा देवता अग्नि और प्राण है। १½ देवता स्वयं प्राण है, जो स्वयं एक पदार्थ हैं और आधे में सब के शरीर का अंग भी है। १ देवता वह केवल प्राण वा आत्मा है जो ब्रह्म भी कहा जाता है।

याज्ञवल्क्य के विचित्र तर्कपूर्ण उत्तर को सुन कर भी विदग्ध चुप नहीं हुये, उन्होंने जान बूझ कर परेशान करने की नीयत से कई इधर उधर के भी प्रश्न किये। याज्ञवल्क्य सब का यथोचित उत्तर देते गये, पर जब उन्होंने देखा की विदग्ध चुप होना नहीं चाहते तो अन्त में रुष्ठ होकर कहा—'विदग्ध ! अब मैं तुमसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ, यदि तुम इसका यथोचित उत्तर नहीं दोगे तो तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो जायगा।'

गर्वोन्मत विदग्ध ने कहा—'याज्ञवल्क्य ! तुम जैसा चाहो वैसा प्रश्न कर सकते हो !'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'विदग्ध ! जिन देवताओं के बारे में तुमने अभी पूछा है क्या बतला सकते हो कि कोई ऐसा भी पुरुष है, जो

इन देवताओं से परे है।'

विदग्ध कोई उत्तर नहीं दे सके। भय के मारे उनका मुख विवर्ण हो गया, ललाट से पसीना चूने लगा और पैर काँपने लगे। देखते ही देखते विशाल ब्राह्मण-मण्डली के सामने विदग्ध का शिर नीचे गिर कर नाचने लगा और धड़ थोड़ी देर तक छटपटाकर राजा जनक के सामने से दौड़ता हुआ याज्ञवल्क्य के चरणों के समीप जा कर गिर पड़ा।

याज्ञवल्क्य के ज्ञान और तेज के इस अद्भुत चमत्कार को देख कर सारी भीड़ सहम गयी। स्वयं राजा जनक भी उनके तेज से आतंकित हो गये। तदन्तर याज्ञवल्क्य ने फिर ब्राह्मणों को संबोधित कर कहा—'आप लोगों में से कोई एक या सब मिल कर मुझसे यदि कोई प्रश्न करना चाहें तो कर सकते हैं।' किन्तु किसी को याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने का साहस नहीं हुआ। चारों ओर से याज्ञवल्क्य की जय-जयकार की ध्वनि होने लगी। उनका मुखमण्डल तेज की अधिकता से ज्येष्ठ के सूर्य की भाँति प्रदीप्त हो उठा। उधर गार्गी का चेहरा भी प्रसन्नता से खिल उठा।

तदनन्तर राजा जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य की बड़ी प्रशंसा की और बड़े आदर-सत्कार के साथ उन्हें और अधिक दक्षिणा देकर सम्मान से साथ बिदा किया। सभी विद्वान् ऋषि-मुनि एवं महात्मा जन भी याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता तथा ब्रह्मनिष्ठा की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने शिष्यों के साथ आश्रम को पधारे। अभागे विदग्ध के शिर और धड़ को लेकर उनके शिष्यों ने अंतिम संस्कार सम्पन्न किया और फिर शुद्ध मन से याज्ञवल्क्य के पास जा कर उनकी शिष्यता ग्रहण करने का विचार पक्का किया।[1]

[1] बृहदारण्यक उपनिषद् से।

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी

[८]

महर्षि याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता की चर्चा पहले की कथा में बतला चुके हैं। उनकी तेजस्विता के बारे में भी बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार जनक की सभा में उनके प्रश्नों का उत्तर न देने के कारण गर्वोन्मत्त विदग्ध का शिर धड़ से अलग हो गया था। याज्ञ-वल्क्य की चर्चा रामायण आदि में भी आई है, उनकी बनाई हुई स्मृति का आदर आज भी मानव-समाज में होता है। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि वे अपने समय के बेजोड़ पण्डित और ब्रह्म-ज्ञानी थे। बड़े-बड़े ऋषियों मुनियों से लेकर राजाओं के दरबारों तक में उनकी विद्वत्ता की पूजा होती थी। मिथिला के राजा जनक के यहाँ तो उनका बहुत सम्मान होता था। परम ज्ञानी राजा ने स्वयं याज्ञ-वल्क्य से ही दीक्षा ग्रहण की थी।

उन महर्षि याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं। एक का नाम था मैत्रेयी और दूसरी का कात्यायनी। वे भी परम विदुषी और पति की सेवा में सदा तत्पर रहने वाली थीं। महर्षि याज्ञवल्क्य के सफल एवं सुखी जीवन में उनकी इन दो अर्द्धांगिनियों का प्रमुख हाथ था। वे उनके आश्रम का सारा काम सँभालती थीं और शिष्यों को पढ़ाने-लिखाने में भी सहायता पहुँचाती थीं। आश्रम में कहाँ क्या हो रहा है, कहाँ से कौन सामान आयेगा, आज किस निर्बल विद्यार्थी को किस सबल विद्यार्थी ने अकारण पीटा है, इन सब बातों का वे दोनों पूरा पता रखती थीं और आवश्यकता के अनुसार सब की उचित व्यवस्था भी रखती थीं। इन्हीं सब झंझटों से फुर्सत पाकर महर्षि याज्ञवल्क्य अपने शास्त्र-चिन्तन में रात-दिन लगे रहते थे। विद्यार्थियों को पढ़ाने-

लिखाने से जो कुछ समय बचता था उसे वे ब्रह्म-चिन्तन वा आत्मानुशीलन में लगते थे। इसी का यह परिणाम था कि उनके समान थोड़ी ही अवस्था में उनके जितना बड़ा विद्वान् कोई दूसरा आचार्य नहीं हुआ।

मैत्रेयी और कात्यायनी यद्यपि दोनों ही समान रूप से गुणशालिनी तथा सदाचारिणी थीं और तन मन से पति की सेवा में लगी रहती थीं; पर कात्यायनी को अपने मनोहर रूप तथा यौवन की भी थोड़ी चिन्ता रहती थी। दिन-रात के बीच में थोड़ा समय बचा कर वह अपने सुन्दर शरीर की भी सजावट आदि एक बार कर लेती थीं और इस बात का सदा खयाल रखती थीं कि कहीं वेश-भूषा या सजावट में कोई कमी तो नहीं है। महर्षि याज्ञवल्क्य का स्नेह दोनों पत्नियों पर समान था। वे कात्यायनी के शृंगार-सौन्दर्य या यौवन के प्रति कभी आसक्त नहीं थे। मैत्रेयी भी सदा छोटी बहन के समान कात्यायनी से स्नेह रखती थी, उसके शृंगार सजाव को लेकर उनके मन में कभी कोई दुर्भाव पैदा नहीं हुआ।

धीरे-धीरे जवानी के दिन बीत गये। महर्षि याज्ञवल्क्य का शरीर शिथिल होने लगा। भ्रमर के समान काले बाल पक कर सन की भाँति सफेद हो गये और तेजस्वी मुखमण्डल में झुर्रियाँ पड़ गयीं। नेत्रों की ज्योति मन्द पड़ गयी और हाथ-पाँव थोड़े ही श्रम से दुखने लगे। जहाँ रात दिन छात्रों को पढ़ाने-लिखाने और दूर-दूर के यज्ञ-हवनादि में सम्मिलित होने का उत्साह हृदय में छलकता रहता था वहाँ संसार को देखकर विराग के घने बादल छा गये। इन्द्रियों के साथ मन भी शिथिल हो गया। अब शास्त्रीय वाद-विवादों या शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा जाने कहाँ विलीन हो गयी। मैत्रेयी और कात्यायनी के शरीर का भी यही हाल हुआ। याज्ञवल्क्य के समान मैत्रेयी भी संसार के ऐहिक सुखों से विरक्त होने लगी। घर-गृहस्थी वा आश्रम की उतनी चिन्ता नहीं रह गयी। शरीर की ओर थोड़ी बहुत

चिन्ता जो जवानी में थी भी वह और भी समाप्त हो गयी। रात-दिन के बीच में ब्रह्म का ध्यान करने के अतिरिक्त जो कुछ समय बचता वह पति की सेवा और आश्रम के शिष्यों की देख-रेख में वह लगातीं। चौबीस घण्टे में एक बार खातीं और मुश्किल से चार घण्टे सोती। पर कात्यायनी का कुछ दूसरा ही हाल था। शरीर के सब अंग यद्यपि शिथिल हो गये थे; पर सांसारिक विषय-भोगों से उनका मन भरा नहीं था बल्कि कहना यह चाहिये कि वह उत्तरोत्तर सांसारिक विषयों की ओर अधिकाधिक खिंचती चली गयीं। मैत्रेयी की देखादेखी वह थोड़ी देर तक यदि आश्रम के कामों में लगी रहतीं या ईश्वर का ध्यान करतीं तो अधिक देर तक सोतीं और विश्राम करतीं। वृद्धावस्था को छिपाने के लिये उन्हें शृंगारों की शरण लेनी पड़ती। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की विरक्ति पर वह मन ही मन कुढ़तीं कि पता नहीं इन दोनों का शिर क्यों इस तरह फिर गया है ?

× × ×

एक दिन सायंकाल महर्षि याज्ञवल्क्य जलाशय से संध्या आदि से निवृत्त होकर वापस लौट रहे थे कि बीच मार्ग में मैत्रेयी मिल गयीं। याज्ञवल्क्य का मन बहुत भारी था, आश्रम के झंझटों से वे बहुत खिन्न हो गये थे। मैत्रेयी को बुला कर उन्होंने कहा—'सहचरि ! मेरा मन अब गृहस्थी से भर गया है। हृदय में आश्रम संभालने का उत्साह अब नहीं है। मैं गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ। तुम्हारी इस विषय में क्या राय है ?'

मैत्रेयी मुनि की मुखमुद्रा से परिचित हो गई थीं। इधर उन्हें भी गृहस्थी के कार्यों से विरक्ति-सी हो चली थी। इसी को निवेदन करने के लिये वह बीच मार्ग में पहले ही से खड़ी हुई थीं। अतः याज्ञवल्क्य की बातें सुन कर उन्हें कोई विस्मय नहीं हुआ, पीछे-पीछे चलती हुई विनम्र स्वर में वह बोलीं—'देव ! गृहस्थाश्रम से संन्यास ग्रहण करने की बात तो सही है; पर आश्रम कौन चलाएगा ? देश-देश के सहस्रों

ब्राह्मणकुमार आपके भरोसे घर-द्वार छोड़ कर जो यहाँ आए हुए हैं, उनका पठन-पाठन एकदम बन्द हो जायगा। आपके बाद आश्रम बन्द हो जाने से देश की बहुत बड़ी हानि होगी, क्या इस बात पर भी कभी आपने विचार किया है।'

याज्ञवल्क्य ने पथ पर चलते हुए कहा—'मैत्रेयी! आश्रम की चिन्ता ने ही मुझे अब तक बाँध रखा है, तुम कैसे जानती हो कि मैंने इस पर कभी विचार नहीं किया है?'

मैत्रेयी बोलीं—'तो फिर आपके संन्यास ग्रहण कर लेने पर आश्रम कौन चलायेगा?'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'हारीत की योग्यता अब ऐसी हो गई है कि मेरे न रहने पर वह आश्रम का सब काम-काज संभाल लेगा।'

यह बातें कहते-कहते याज्ञवल्क्य आश्रम के द्वार पर पहुँच गये जहाँ बैठ कर कात्यायनी भी नीवारों को पीट कर चावल निकाल रही थीं।

याज्ञवल्क्य कुशासन पर बैठ गये, मैत्रेयी आश्रम में चली गयीं और कात्यायनी सूर्यास्त हो जाने के कारण दीवठ से पीपक उठा कर जलाने के लिए भीतर चली गयीं। थोड़ी देर तक आश्रम में नीरवता छाई रही फिर याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को अपने पास बुलाया और बैठने का इशारा कर थोड़ी देर तक मौन रहने के बाद कहा—'सहधर्मिणि! सचमुच मेरा मन विरक्ति से भर गया है और अब मैंने गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास ग्रहण करने का निश्चय पक्का कर लिया है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि घर की सारी सम्पत्ति तुम दोनों में अपने सामने ही आधी-आधी बाँट दूँ जिससे तुम दोनों में आपस में कोई झगड़ा-झंझट न हो क्योंकि कात्यायनी का स्वभाव कुछ रूखा और स्वार्थी है।

याज्ञवल्क्य की बातें सुन कर भी मैत्रेयी चुप बनी रहीं। वह सोचने लगीं कि 'मनुष्य अपने पास की किसी भी वस्तु को छोड़ने के लिए तभी तैयार होता है जब उसको पहले की अपेक्षा कोई अधिक अच्छी वस्तु मिल जाती है। बिना अधिक पाने की आशा से कोई निकृष्ट

वस्तु छोड़ने के लिये भी तैयार नहीं होता। महर्षि घर-बार एवं इतनी सांसारिक वैभव-प्रष्ठिा को छोड़ कर जो संन्यास ले रहे हैं तो इन्हें इससे भी कोई अधिक मूल्यवान् वस्तु मिलने की आशा होगी। उस अमूल्य वस्तु के सामने ये सांसारिक वैभव एवं घर-बार को अति तुच्छ समझते होंगे तभी तो सब कुछ छोड़ने के लिये तैयार हुये हैं। वह अमूल्य वस्तु ऐसी कौन सी है, जो कि इनके समान विद्वान एवं पार-दर्शी में भी लालच पैदा कर रही है। निश्चय ही वह संसार के दुःख द्वन्द्वों से मुक्ति दिलाने वाली वस्तु होगी क्योंकि ये रात-दिन उसी चिन्ता में लगे रहते थे। मुझे लगता है कि बहुत दिनों के चिन्तन के बाद ये इसी निश्चय पर पहुँचे हैं कि उस परम तत्व के पाए बिना वास्तविक सुख शान्ति एवं सन्तोष नहीं मिल सकता। वह परम तत्त्व अमरत्व ही है कुछ दूसरा नहीं क्योकि बात-चीत के प्रसंग में इन्होंने कई बार उस अमरत्व की बड़ी प्रशंसा की है। वह अमरत्व क्या है? यही जो इन्द्रादि देवताओं को मिला है। नहीं यह, यह तो नहीं हैं, इन्द्रादि को भी कहाँ सच्ची सुख-शान्ति मिली है। रात-दिन असुरों के भय से जिसे ठीक नींद नहीं आती वह सच्चा अमर नहीं है। सच्ची अमरता तो उस परमात्मा के पाने में है जिसके लिये सारा संसार व्याकुल रहता है। निश्चय ही प्राणपति उसी परमात्मा को प्राप्त कराने वाली अमरता के लिये संसार के वैभवों को तिरस्कृत करने को तैयार हुये हैं।' इस तरह मन ही मन बड़ी देर तक मैत्रेयी सुनती रहीं। याज्ञवल्क्य को उनका न टूटने वाला मौन खुल गया। वे फिर बोले—'गृहिणी! क्या तुम इनके लिये तैयार नहीं हो कि गृहस्थी का सब सामान आधा-आधा बाँट दिया जाय। यदि तुम समझती हो कि मेरे चले जाने के बाद कात्यायनी के साथ तुम्हारी ठीक पट जायगी और कभी कोई झंझट नहीं उठेगा तो बाँटने की कोई जरूरत भी नहीं है। पर मुझे अन्देशा है कि कात्यायनी इस पर राजी न होगी।'

मैत्रेयी चुप नहीं रह सकीं। हाथ जोड़ कर विनीत स्वर में

बोलीं—'महर्षे ! क्या आप उसी अमरता को प्राप्त करने के लिये इस गृहस्थाश्रम को छोड़ रहे हैं जिसकी चर्चा पहले किया करते थे।'

याज्ञवल्क्य मुस्कराये। थोड़ी तेर तक मैत्रेयी की ओर विस्मित नेत्रों से ताकने के बाद दाहिना हाथ उठा कर बोले—'हाँ, तुम्हारा अनुमान ठीक है, मैं उसी अमरत्व की उपासना के लिये ही इस गृहस्थी को छोड़ रहा हूँ, क्योंकि इन संसारिक झंझटों के बीच में रह कर कोई उसकी सच्ची उपासना नहीं कर सकता।'

मैत्रेयी अपनी सहज गम्भीरता को छोड़ नहीं सकीं। याज्ञवल्क्य की उक्त बातों ने उनके निर्मल मानस में एक नयी जिज्ञासा की भावना पैदा कर दी। हाथ जोड़ कर वह पुनः बोलीं—'देव ! क्या मुझे उस अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती ? मुझे यदि धन-धान्य से परिपूर्ण यह पूरी पृथ्वी मिल जाय तो क्या उसके द्वारा मैं अमरत्व की प्राप्ति कर सकती हूँ ?''

याज्ञवल्क्य ने कहा—'नहीं, कदापि नहीं। धन-धान्य समेत पृथ्वी की प्राप्ति से तुम धनिक बन सकती हो सांसारिक भोग-विलासों से भरा हुआ अतृप्त जीवन बिता सकती हो; पर उसके द्वारा अमरत्व की प्राप्ति तो कभी नहीं हो सकती।'

मैत्रेयी तुरन्त बोल उठीं—'महर्षे ! जिस धन-धान्य से मुझे उस अमरत्व की प्राप्ति कदापि नहीं होगी, जिसके लिए आप को यह घर-बार तृण जैसा तुच्छ मालुम हो रहा है और बड़ी प्रसन्नता से आप सब का त्याग कर रहे हैं तो भला उसी धन-धान्य को बाँट कर आप मुझे क्यों देना चाहते हैं ? क्या आप मुझे उस अमूल्य निधि से वंचित रखना चाहते हैं जिसके लिए स्वयं इतना बड़ा त्याग करने जा रहे हैं?'

याज्ञवल्क्य गम्भीर बन गये। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद बोले—'मैत्रेयी ! तू मेरी सच्ची सहधर्मिणी है। मैं तुझे उस अमूल्य नधि से वंचित रखना नहीं चाहता। पर मैं यह भी नहीं चाहता कि जबर्दस्ती से अपना विचार या निश्चय तुझ पर लाद दूँ।'

मैत्रेयी ने कहा—'देव ! यदि आप मुझे अपनी सच्ची सहधर्मिणी मानते हैं तो यह प्रश्न उठता ही नहीं कि आपके विचार या निश्चय मुझे भार के समान मालूम पड़ें। मैं तो अपनी श्रद्धा और भक्ति से आपके आदेशों का सदा पालन करती आई हूँ। और फिर उस अमरत्व की प्राप्ति के लिए तो मैं स्वतः लालायित हूँ, जिसके लिए आप जैसे विद्वान एवं पारदर्शी इतने उत्सुक हो रहे हैं। देव ! मुझे इन सांसारिक वैभवों के भोग की स्वप्न में भी आकांक्षा नहीं है। मैं चाहती हूँ केवल आपके कमलचरणों की सुखद छाया और वही मेरे जीवन की परम साधना है। मुझे विश्वास है कि मैं उसी में बैठ कर उस परमतत्त्व अमरत्त्व की प्राप्ति भी कर सकूँगी।'

मैत्रेयी के सुधावर्षी मुखचन्द्र की ओर महर्षि याज्ञवल्क्य के दोनों नेत्र चकोर की भाँति निर्निमेष बन गये। मृदंग के गम्भीर स्वर के समान मैत्रेयी के शब्द उनके कानों को परम सुख देते हुए शुभ्र हृदय पर अंकित हो गये। उनकी निर्मल अन्तरात्मा से वास्तविक आनन्द का अविरल स्रोत फूट पड़ा। रोमावलि खड़ी हो गयी पर कम्बुकण्ठ में स्निग्धता व्याप्त हो गयी। मैत्रेयी की निःस्वार्थ सेवा का चिर जीवन आज मूर्तमान होकर उन्हें पहिली बार दिखाई पड़ा। आश्रम के बाहर चाँदनी की चादर बिछ रही थी, याज्ञवल्क्य ने समझा यह मैत्रेयी की सेवा का स्थूल शुभ्र रूप ही है, जो अपनी महिमामयी धवलिमा में दिगन्त को डुबो रही है। थोड़ी देर तक वे इस परमानन्द में डूबते-उतराते रहे फिर साहसपूर्वक गद्‌गद स्वर में बोले—'मैत्रेयि ! पहले भी तुझे मैं हृदय में कात्यायनी से अधिक मानता था और इस अनीति में अपनी समदर्शिता के ढोंग को मन ही मन उतार देता था, पर आज तेरे इन अमृतोपम वाक्यों से मेरे मन में तेरे वह प्रेम बहुत अधिक बढ़ गया है। तू वास्तव में देवी है। तू यहाँ मेरे समीप आ जा, मैं तुझे उस अमरत्व का उपदेश करूँगा। मेरी बातों को भली भाँति सुन कर उनका मनन कर।'

मैत्रेयी धन्य हो गयी और हाथ जोड़ कर महर्षि याज्ञवल्क्य के चरणों पर गिर पड़ी। उसकी आँखों से प्रेम के मोती निकल पड़े। वृद्ध याज्ञवल्क्य ने अपनी सशक्त बाहुओं से उठा कर उसे गले लगा लिया और सम्मान-पूर्वक बैठा कर प्रियतम रूप से आत्मा का वर्णन आरम्भ करते हुए कहा—'मैत्रेयि! पति की कामनाओं से स्त्रियों को पति प्रियतम नहीं होता प्रत्युत आत्मा की कामनाओं या प्रयोजनों के लिए प्रियतम होता है। इसी तरह पुरुषों को स्त्रियों की कामनाओं से स्त्री प्रियतमा नहीं होती वरन् आत्मा की कामनाओं से होती है। हे प्रिये! यहाँ पर मैंने आत्मा की कामनाओं से प्रियतम या प्रियतमा होने की जो बात कही है, उसे जरा ध्यान देकर समझो, कुछ अटपटी बात है।'

मैत्रेयी बोलीं—'महर्षे! मेरी समझ में भी यह बात नहीं बैठ रही है। यहाँ आत्मा की कामनाओं से आपका तात्पर्य अपने शरीर की कामनाओं से तो नहीं है? किन्तु आत्मा तो शरीर है नहीं। वह तो एक निराली ही वस्तु है, जिसका कभी नाश नहीं होता, शरीर तो क्षण भर में नष्ट होने वाली वस्तु है। मैं जानना चाहती हूँ कि वह आत्मा क्या है?'

याज्ञवल्क्य ने दाहिना हाथ उठा कर कहा—'मैत्रेयि! बहुत से लोग आत्मा का मतलब शरीर से समझते हैं, वे मूर्ख यह मानते हैं कि यह शरीर ही आत्मा है और इसी निश्चय पर वे रात दिन पेटपूजा और भोग-विलास में लगे रहते हैं। और कुछ कहते हैं कि जब तक शरीर के भीतर जीव है, तभी तक संसार है, मरने के बाद कुछ नहीं है, इसलिए यहाँ इसे जितना भी आराम पहुँचाया जा सके, ठीक है। ऐसे लोग परलोक नहीं मानते अर्थात् मरने के बाद आत्मा समाप्त हो जाती है, वे यही कहते हैं, और उसी विनश्वर आत्मा के लिए वास्तविक आत्मा का मतलब निकालते हैं। पर बात बिल्कुल दूसरी है। यहाँ आत्मा से मतलब आत्मा के लिए है अर्थात् जिस

वस्तु या जिस सम्बन्धी से अपनी आत्मा की उन्नति हो, आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सके वही सबसे अधिक संसार में प्रिय है। इसीलिए कहा भी गया है कि 'आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्' अर्थात् अपने उद्धार के लिए मनुष्य को यदि पृथ्वी भी छोड़नी पड़े तो छोड़ दे। हे मैत्रेयि ! इस विशाल संसार में जो कुछ भी वस्तुएँ हैं वे सब आत्मा की कामनाओं या प्रयोजनों के लिए ही प्रिय हैं। यह अपनी आत्मा ही संसार की समस्त प्रिय वस्तुओं का आधार है, संसार का सारा प्रेम इसी के भीतर छिपा हुआ है, इस-लिए वास्तव में यही सबसे अधिक दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निरन्तर ध्यान करने योग्य है। प्रिये ! इसी के दर्शन, श्रवण, मनन, चिन्तन और साक्षात्कार से संसार में सब कुछ जाना जा सकता है। यही सबसे श्रेष्ठ ज्ञान है।

मैत्रेयी आत्मा की इस महान् शक्ति की बातें सुन कर विस्मित हो रही थी। आज तक उसके ध्यान में ब्रह्म का दूसरा ही रूप विराज रहा था। आत्मा को छोड़ कर ब्रह्म के पीछे ही उसकी सारी साधना लगी थी। याज्ञवल्क्य की इस नवीन व्याख्या से उसकी चिन्तन शक्ति व्याकुल हो गयी। बीच ही में हाथ जोड़ कर बोल पड़ी—'देव ! आज तक मैंने ब्रह्म ही को संसार में सब का आधार माना था, और संसार की समस्त प्रिय वस्तुओं का आधार भी उसी ब्रह्म में मानती थी और सर्वत्र अग-जग में उसी को ढूँढ़ती भी थी। तो क्या इतने दिनों की मेरी सारी साधना निष्फल रही ?'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'मैत्रेयि ! नहीं, तुम्हारी साधना निष्फल नहीं रही। पर आत्मा को छोड़ कर बाहरी संसार में जो ब्रह्म के ढूँढ़ने का उपक्रम करता है, वह ब्रह्म से दूर हो जाता है। यह आत्मा स्वयं ब्रह्म है और ब्रह्म जगत्स्वरूप है अर्थात् जगत् की समस्त वस्तुएँ ब्रह्ममय हैं इसलिए इसी आत्मा में ही सब जगत् को ढूँढ़ना चाहिए। आकाश, पाताल, पृथिवी, पहाड़, नदी, नद, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,

चाण्डाल, वेद, शास्त्र, देव, असुर, अर्थात् सभी चराचर जीव आत्मा हैं ! अतः जो आत्मा को छोड़ कर बाहर इनको ढूँढ़ने का प्रयास करता है वह इन सब से दूर हो जाता है। सुनो, इसे उदाहरण देकर समझाते हैं। जैसे—जब ढोल या मृदंग बजाया जाता है तो हम कोई भी उसकी बाहरी आवाज को नहीं पकड़ सकते उसे तभी पकड़ सकते हैं जब कि ढोल या ढोल बजाने वाले को पकड़ लेवें उसी तरह इस आत्मा से ही ऊपर की सभी वस्तुओं का जन्म होता है, जब हम सब के जनक आत्मा को पकड़ेंगे तभी सब को पकड़ सकते हैं। हे प्रिये ! जैसे गीले ईंधन से अनेक धाराओं में धूएँ निकलते हैं उसी तरह इस महान् आत्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं अन्यान्य विद्याएँ निकलती हैं। उसी को प्राप्त करने के बाद सब की प्राप्ति हो सकती है।'

मैत्रेयी ने कहा—'महर्षे ! क्या उस आत्मा में इन जीवादिकों की पृथक सत्ता का कोई पता लग सकता है ?'

याज्ञवल्क्य बोले—'मैत्रैयि ! जैसे नमक का एक टुकड़ा पानी में पड़ कर उसी में मिल जाता है और उसको पानी से अलग नहीं कर सकते, किन्तु जहाँ कहीं से भी जल को लें उसमें नमक होता ही है, उसी प्रकार इस महान् आत्मा में सब जीवादि मिल जाते हैं, उसके बाद उनका कोई पृथक नामनिशान नहीं रहता। यह आत्मा अनन्त अपार और विज्ञानमय है। सभी जीवादि इसी में से निकलते और अन्त में समाविष्ट हो जाते हैं।'

मैत्रेयी बोली—'भगवन् ! आप जो यह कह रहे हैं कि सभी जीवादि इस आत्मा में मिलने के बाद अपनी पृथक सत्ता नहीं रखते। उनके नाम-निशान सदा के लिए मिट जाते हैं, यह सुन कर मैं बहुत चकरा गई हूँ, कृपया मुझे ऐसी बातें बतला कर मोहित न करें।'

याज्ञवल्क्य ने गम्भीरता से कहा—'प्रिये ! मैंने तुम्हें मोहित करने के लिए यह सब नहीं कहा है, यह सारी बातें तुम्हें जाननी चाहिएँ। देखो, जब तक मन में इस आत्मा के साथ एकता का भाव

नहीं जाग जाता, तभी तक प्राणी अपने से भिन्न एक दूसरे को देखता है, एक दूसरे को सूँघता है, एक दूसरे को चखता है, एक दूसरे से बोलता है, एक दूसरे को सुनता है' एक दूसरे पर मनन करता है, एक दूसरे को छूता है और एक दूसरे को जानता है, पर जहाँ सबमें आत्मा का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् सब में सर्वात्मभाव जाग उठता है, अपने में एकत्व की धारणा हो जाती है तब संसार की समस्त वस्तुएँ आत्मा ही हैं, ऐसी प्रतीत होने लगती है और दूसरे को देखने, सूँघने, चखने, बोलने, सुनने, मनन करने, छूने और जानने का सवाल ही नहीं उठता। हे प्रिये! यह आत्मा सच समझो कि अवर्णनीय है, इसका वर्णन 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नहीं, ऐसा नहीं' कह कर किया जाता है। यह अग्राह्य है अर्थात् इसको ठीक-ठीक से कोई पकड़ नहीं सकता, यह अशीर्य है, अर्थात् कभी शीर्ण (पुराना) नहीं होता, असंग है, अर्थात् कभी किसी में आसक्त नहीं होता, बन्धन रहित है, अर्थात् कभी दुःखी नहीं होता। यही समझो। आत्मा के सम्बन्ध में इससे बढ़ कर ज्ञान प्राप्त करने की तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे लिए मेरा यही उपदेश है और यही सच्ची मुक्ति को प्राप्त करने का महान् साधन है।'

मैत्रेयी महर्षि याज्ञवल्क्य के इस उपदेशामृत को पान करके धन्य हो गयीं। वह अमर बन गयीं, संसार की व्याधियों का भय उनसे सदा के लिये दूर हो गया। कात्यायनी खड़ी-खड़ी याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के इस अटपटे संवाद को देर से सुन रही थीं; पर उनकी समझ में आत्मा की इस महत्ता का बोध केवल इतना ही हुआ कि घंटों से होने वाली बकझक को बन्द करने के लिये बीच में रूखे स्वर से बोल पड़ीं—'बहिन! आपको ध्यान नहीं है कि रात हो गयी और अभी तक कल के लिये तण्डुल का प्रबन्ध नहीं हुआ।'

याज्ञवल्क्य मुसकराये। मैत्रेयी अनमनी खड़ी रहीं। कात्यायनी को इतनी समझ आ गयी कि मैत्रेयी को कोई उत्तर देता न देख दीवट

की आड़ से भीतर चली गयीं। बाहर आश्रम के मृग-शावकों की मण्डली आनन्ददायिनी निर्मल चाँदनी रात का आनन्द लूट रही थी। थोड़ी दूर पर छात्रों की शाला से वेदध्वनि के सामूहिक अस्फुट स्वर गुँजन बन कर शीतल मंद सुगंध पवन के साथ वातावरण को संगीतमय कर रहे थे। याज्ञवल्क्य बोले—'मैत्रेयि! कल प्रातःकाल ही हमारे आश्रम को संन्यस्त करने की शुभ घड़ी होगी। अब तुम क्या चाहती हो?'

मैत्रेयी को अब विकल्प कहाँ था। उसने विनीत स्वर में कहा—'आराध्यचरण! मैं आपके मार्ग में कंटक नहीं बनूँगी। मेरी चाह है कि मैं पुष्प की एक कली बन कर आपके पावन चरणों की रज से अपने को धन्य बना लूँ। अब मुझे जगत् में कामनाओं की माला गूँथने की आकांक्षा नहीं है। मैं भी वहीं रहूँगी, जहाँ आपके सुखद साहचर्य का अमूल्य क्षण मिलेगा।'[1]

---

[1] वृहदारण्यक से

वैश्वानर की खोज में

(६)

बहुत पुरानी बात है। इसी हमारे देश में पाँच बहुत बड़े कुलपति रहते थे। कुलपति उन्हें कहते हैं जो हजारों विद्यार्थियों के भोजन वस्त्र के स्वयं प्रबन्ध रखते थे और उन्हें पढ़ा लिखा कर पचीस वर्ष की उमर तक सभी शास्त्रों में पण्डित बना देते थे। आज-कल की तरह न तो छात्रों से पढ़ाई की फीस ली जाती थी और न भोजन आदि का कोई खर्चा रहता था। बड़े-बड़े राजा महाराजा उन कुलपतियों की हर एक तरह से सहायता तो करते ही थे, दूर-दूर देहात तक में गृहस्थों के घर से उन विद्यार्थियों के लिए भोजन मिलता था। एक एक कुलपति के पास दस-दस हजार विद्यार्थी रहते थे। जिन पाँचों कुलपतियों की कथा हम बता रहे हैं वे अपने समय के महान कुलपति थे। उनका दूसरा नाम महाशाल था, जिसका अर्थ होता है असंख्य विद्यार्थियों वाली पाठशाला के कुलपति। उन पाँचों कुलपतियों का नाम इस प्रकार था। उपमन्यु के पुत्र प्रचीनशाल, पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लव के पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष के पुत्र जन और अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल। वे सब वेदों के बहुत बड़े पण्डित तो थे ही साथ ही बहुत बड़े गृहस्थ और गौओं के स्वामी भी थे।

जब कभी कोई त्यौहार या पर्व पड़ता तब ये पाँचों कुलपति एक जगह पर एकत्र होते थे और उन उन विषयों पर चर्चा करते थे जिन पर किसी को कुछ सन्देह रहता था या जनता में जिसकी बहुत बड़ी जरूरत होती थी। इसी प्रसंग में एक बार ये पाँचों कुलपति इकट्ठे हुये थे और शास्त्रों की चर्चा चल रही थी कि एक सत्तर साल का बुड्ढा गृहस्थ, जो देखने में वैश्य मालूम पड़ता था, उनकी सभा में

आया और आदर सहित हाथ जोड़ कर बोला—'पण्डितों ! मेरे मन आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है, इस बात को लेकर बहुत बड़ा सन्देह फैला है। शास्त्रों की पुस्तकों में बहुत कुछ लिखा गया है मगर उससे वास्तविक सन्तोष नहीं होता और न वे सारी की सारी बातें मेरी समझ में ही आती हैं। आप सब हमारे देश के विख्यात पण्डित यहाँ इकट्ठे हैं ऐसा संयोग फिर कभी नहीं मिलेगा, यही सोच कर मैं आया हुआ हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि एक अबोध बच्चे की भाँति मुझे सब तरह से अयोग्य समझ कर मेरी इस शंका का निराकरण करें।'

कुलपतियों की गोष्ठी में थोड़ी देर के लिए सन्नाटा दौड़ गया, सभी एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। जिज्ञासु वैश्य भक्ति-भाव से विनीत मुद्रा में बैठ गया। उसके उत्सुक हृदय में हर्ष के हिलोरे उठने लगे और कान कुलपतियों के वचनामृत का पान करने के लिये तैयार हो गये। पर कुलपति गण अभी तक मौन भाव से एक दूसरे के उत्तर देने का मौका ढूँढ़ रहे थे। परिणाम यह हुआ कि बड़ी देर तक सब के सब चुप बने रहे। अन्त में उमर में सबसे ज्येष्ठ उपमन्यु के पुत्र आचार्य प्रचीनशाल ने कहा—'भद्र ! ब्रह्म और आत्मा संसार के जर्रे-जर्रे में छिपा हुआ है। उसको अच्छी तरह से समझने की जरूरत है। अच्छा होगा कि आप किसी दूसरे दिन फुर्सत से आवें, अभी हम लोग एक दूसरे विषय पर विचार कर रहे हैं, जिस पर कोई निर्णय नहीं हुआ है। उससे अवकाश पाकर आपको खुद बुलाएँगे; इस समय क्षमा कीजिए !'

जिज्ञासु वैश्य उठ कर खड़ा हो गया और हाथ जोड़ कर बोला—'महात्मन् ! मेरी अशिष्टता को क्षमा कीजिये, मैं जा रहा हूँ और जब आप फुर्सत पायें मुझे बुला लें। मेरा घर यहाँ से दूर नहीं है, आज्ञा पाते ही फिर सेवा में उपस्थित होऊँगा।'

कुलपतियों की एक बला टली। यों किसी विद्यार्थी या पंडित को

ब्रह्म या आत्मा के विषय में समझाने के लिये उन्हें कुछ भी सोचना नहीं पड़ता था, वेदों और शास्त्रों के वचनों की व्याख्या करके उसे सन्तुष्ट कर सकते थे मगर आज एक ऐसे व्यक्ति से काम आ पड़ा था जिसके लिये शास्त्रों की व्याख्या ही कारगर नहीं हो सकती थी, उसे खूब समझा-बुझा कर सन्तुष्ट करना था, उसकी हर एक दलीलों का उचित समाधान करना था। वैश्य के चले जाने पर कुलपतियों की गोष्ठी में ब्रह्म और आत्मा के विषय विचार शुरू हो गया और अपनी अपनी सूझ-बूझ और स्मरणशक्ति से सब विचार करने में प्रवृत्त हो गये। किन्तु दिन भर बीत जाने के बाद भी सब उलझे पड़े रहे, नयी-नयी शंकाएँ उठती गयीं और शास्त्रों के सैद्धान्तिक वचनों में मन ही मन भ्रम फैलता गया। दूसरे दिन भोजनादिक से निवृत होकर वे फिर उसी आत्मा और ब्रह्म के विचार में लीन हो गये, पर उस दिन भी नयी-नयी शंकाओं और नये-नये भ्रमों का ताँता लगा रहा, किसी निश्चित मत पर पहुँच नहीं सके। अनगिनत शिष्यों को सन्तुष्ट कर देने वाली उन सभी कुलपतियों की बुद्धि इस विषय पर मूढ़ हो गयी, वे मन ही मन बहुत लजित भी हुये। आखिरकार सब ने मिल कर यह तय किया कि किसी दूसरे विद्वान के पास चल कर इसका उचित समाधन कराया जाय, जो ब्रह्मवेत्ता हो। वे खुद देश के बहुत बड़े-बड़े विद्वान थे इसलिए उनकी शंका का समाधान करना कोई मामूली बात नहीं थी। जाते भी तो किसके पास जाते। खुद उन्हीं के लिए यह लज्जा की बात थी कि सारे जीवन भर ब्रह्म और आत्मा के विचार में शिर खपाने वाले आचार्यों को भी अपने ज्ञान पर सन्तोष नहीं है। इस तरह बहुत सोच-विचार के बाद यह तय हुआ कि इस समय हमारे देश में मुनिवर अरुण के पुत्र उद्दालक का नाम ब्रह्मज्ञानी पण्डितों में सब से अधिक चढ़ा-बढ़ा है। उन्हीं के पास हम लोग चल कर पहले अपनी शंकाएँ समाहित कर लें। वे आत्मरूप वैश्वानर को भलीभाँति जानते हैं। यह राय पक्की हो गयी और दूसरे दिन प्रातः

काल वे सब के सब अरुण के पुत्र उद्दालक के आश्रम की ओर रवाना हो गये।

उद्दालक का आश्रम वहाँ से बहुत दूर था। कई दिनों तक पैदल चलने के बाद पाँचों कुलपति आश्रम के समीप पहुँचे। उस समय उद्दालक अपने कुछ शिष्यों को पढ़ा रहे थे। दूर से ही देश के विख्यात उन पाँचों कुलपतियों को देख कर उन्हें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि 'अवश्य ही ये लोग किसी शास्त्रीय विषय पर मुझसे समाधान करने के लिए आ रहे हैं। ये सब के सब खुद वेद-शास्त्र के इतने बड़े पण्डित होकर जो मेरे पास आ रहे हैं तो वह शंका भी कोई मामूली नहीं होगी; क्योंकि अपने-अपने आश्रमों को छोड़ कर इनका इतनी दूर का आना किसी छोटे विषय के कारण नहीं हो सकता। इनके प्रश्न का उत्तर देना सरल काम नहीं है। अभी मुझमें इतनी योग्यता नहीं है कि ऐसे-ऐसे विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर सकूँ। अच्छा यही होगा कि इन्हें किसी दूसरे आचार्य के पास भेज कर अपना पिण्ड छुड़ाऊँ।' उद्दालक शिष्यों के बीच बैठे-बैठे यह विचार कर ही रहे थे कि वे सब एकदम समीप आ गये। शिष्यों समेत उठ कर उद्दालक ने उन पाँचों महान् कुलपतियों का अभ्यागत सत्कार किया। कुशल-मंगल पूछ लेने और अपने शिष्यों के चले जने के उपरान्त उद्दालक ने अपने अतिथियों से आने का प्रयो-जना पूछा। उनमें से वयोवृद्ध प्राचीन शाल ने संक्षेप में अपनी बातें बता दीं। उद्दालक की बात सच निकली, वह थोड़ी देर तक बिल्कुल चुप रहे फिर मुस्कराते हुए विनीत स्वर में बोले—'भगवन्! आप सब के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त कर शिष्यों समेत मैं धन्य हो गया। अतिथि सत्कार के आचारों के अनुकूल मुझे सब तरह से आप को सन्तुष्ट और प्रसन्न करना चाहिए पर मैं देख रहा हूँ कि मेरे दुर्भाग्य से आप सब को सन्तुष्ट करने वाली चीज मेरे पास नहीं है। आप सब हमारे देश के कुल-पतियों में एक के एक बढ़ कर हैं। ब्रह्म और आत्मा के विषय में आपकी

शंकाओं का निराकरण करना मेरे बूते की बात नहीं है। मैं भी उतना ही बता सकूँगा जितना आप सब जानते हैं। मेरी जानकारी में इस समय केकय देश के राजा अश्वपति ही आपकी शंकाओं का समुचित समाधान कर सकते हैं। वे आत्मरूप वैश्वानर सुप्रसिद्ध जानकार हैं। इस विषय में उन्होंने बहुत अधिक अध्ययन और परिशीलन किया है। यदि हम सब लोग उनके पास चलें तो मुझे आशा है कि वे हमारी सारी शंकाओं का निराकरण कर ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध में समुचित ज्ञान देंगे।'

उद्दालक की छलरहित बातों को सुन कर वे सब कुलपति एक दूसरे का मुँह देखने लगे। जीवन में ब्रह्म की महत्ता पर इतनी गहराई से सोचने का अवसर उन्हें नहीं लगा था। निरुपाय हो कर वे सब दूसरे ही दिन प्रातःकाल केकय देश के राजा अश्वपति के पास चलने को राजी हो गये। केकय देश आजकल काकेशिया के नाम से विख्यात है, उस समय भारतवर्ष की सीमा तक मानी जाती थी, महाराज दशरथ की रानी कैकेयी उसी केकय देश के राजा की पुत्री थीं।

दूसरे दिन पाँचों कुलपति उद्दालक के साथ सुदूर केकय देश की ओर पैदल ही रवाना हो गये। उस समय न रेल थी न हवाई जहाज मुनियों को, जो गृहस्थी में रहते हुए भी संसार के विषय भोगों से दूर रहते थे, हाथी घोड़ा की सवारी से कतई कोई सम्बन्ध नहीं था। उनके विद्या-प्रेम का इससे बढ़ कर दूसरा आदर्श क्या हो सकता है कि वे इतने बड़े-बड़े विद्वान और मनीषी होकर भी पैदल ही केकय देश की ओर चल पड़े। रास्ते के दुर्गम पहाड़ी, नदियों और जंगलों को बहुत दिनों में पार कर वे केकय देश की राजधानी में पहुँच गये। राजा अश्वपति को उनके आने का जब समाचार विदित हुआ तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। अपने पुरोहित और गुरु को साथ लेकर उसने उन सब की अगवानी की और अतिथिशाला में लिवा जाकर उनके स्वागत समादर का विधिवत् प्रबन्ध किया। भोजन आदि की व्यवस्था हो जाने के बाद उसने पूर्ण विश्राम करने की प्रार्थना कर दूसरे दिन प्रातः

काल मिलने का वचन देकर रनिवास में चला गया। राजापुरोहित और राजगुरु भी दूसरे दिन प्रातःकाल मिलने की बात करके अपने अपने निवास की ओर चले गये। रास्ते में परेशानियों से थके हुये आचार्यों ने वह रात बड़े आराम से बिता दी। दूसरे दिन ब्राह्ममुहूर्त में नित्यकम के अनुसार उनकी नींद टूटी और वे स्नान-ध्यानादि से निवृत होकर राजा के आगमन की प्रतीक्षा में लग गये।

राजा ने रात में अपने मन में सोचा था कि इन मुनियों का आगमन हमारे यहाँ निश्चय ही कुछ आर्थिक कठिनाइयों के कारण हुआ होगा, इसलिये उसने प्रातःकाल प्रधान मंत्री और कोशाध्यक्ष को बुला कर एक-एक कुलपति को देने के लिये एक-एक सहस्र सुवर्ण मुद्रा, सौ-सौ गौएँ और अन्य बहुतेरी सामग्रियों के साथ अतिथिशाला में चलने का आदेश किया। इन सब सामानों को लेकर वह अतिथिशाला में पहुँचा जहाँ वे ब्रह्म-जिज्ञासु उसकी प्रतीक्षा में आतुर हो रहे थे। दण्ड प्रणाम के अनन्तर राजा अश्वपति ने उन छहों आचार्यों से अपनी तुच्छ भेंट स्वीकार करने की विनत प्रार्थना करते हुए कहा—पूज्य ब्राह्मणों! मेरी धृष्टता को क्षमा कीजिये। जो आप सब को इतनी दूर आना पड़ा। मैंने इधर आपके आश्रम के बारे में कोई जानकारी नहीं प्राप्त की कि वे किस प्रकार चल रहे हैं, आज आप सब को आया देख कर यद्यपि मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है। पर मन में बहुत लज्जित भी हूँ। यह मेरी भेंट स्वीकार कीजिए और जिन अन्य वस्तुओं की आवश्यकता हो उनके लिए निःसंकोच आदेश कीजिए। मेरा सर्वस्व आपका है।'

थोड़ी देर तक कुलपतियों में एक दूसरे की ओर ताकते रहे। फिर सबके मूक संकेत से उद्दालक ने मुसकराते हुए कहा—'राजन्! हमें आपके धन की कोई आवश्यकता नहीं है। आपकी कृपा से हम सबों के आश्रम निर्बाध रूप से चल रहे हैं। इतनी वस्तुएँ ले जाकर

हमें बेकार के झंझट नहीं बढ़ाने हैं। कृपया हमारी धृष्टता को अशिष्टता न समझिए।'

उद्दालक की बातों से राजा अश्वपति के हृदय को बड़ा धक्का लगा। उसने मन में सोचा कि ये सर्वश्रेष्ठ कुलपतिगण ब्रह्म के पूर्ण जानकार हैं। मुझे ये अपराधी और अधर्मी समझ रहे हैं जो मेरा दिया हुआ धर्म स्वीकार नहीं कर रहे हैं। इस तरह थोड़ी देर तक अन्य कुलपतियों के उत्तर की प्रतीक्षा भी वह करता रहा पर वे सब के सब चुपचाप बैठे हुए थे। आखिरकार उसने अपने दिल की बात को प्रकट करते हुए कहा—'मुनियो! मेरे राजभर में कोई चोर नहीं है, न कोई सूम है, न कोई शराबी है। ऐसा कोई द्विज मेरे राज्य में नहीं रहने पाता जो अग्निहोत्र न करता हो या वेदों का जानकार न हो। न कोई व्यभिचारी पुरुष है और न कोई व्यभिचारिणी स्त्री है। इस तरह मेरा धन सब तरह से शुद्ध है। फिर तब ऐसा कौन-सा कारण है जो मेरे दिए हुए धन को आप लोग नहीं लेना चाहते।'

राजा की विनीत बातों को सुन कर छहों वेदज्ञ पण्डितों ने एक स्वर से कहा—'राजन्! हम लोग इतने धन की कामना से आपके पास इतनी दूर नहीं आए है।'

राजा अश्वपति को मुनियों के इस वाक्य से यह सन्देह हुआ कि मेरा दिया हुआ धन बहुत कम है। ये इतने से अधिक धन या सम्मान प्राप्ति की आशा करके यहाँ आए हुए हैं। उसने कहा—'आदरणीय आचार्यों! मैं शीघ्र ही एक बहुत बड़ा यज्ञ करने वाला हूँ। उस यज्ञ में आप सब लोगों को ही प्रधान याजक (यज्ञकर्त्ता) नियुक्त करूँगा और उस पद के अनुरूप विपुल दक्षिणा भी दूँगा। इसलिए आप लोग कृपा करके कुछ दिनों तक यहाँ रुक जाय। मैं बहुत शीघ्र ही उसका समारम्भ करूँगा।'

मुनियों ने उत्तर दिया—'राजन्! हम लोग धन की इच्छा करके इतनी दूर नहीं आये हैं। अतएव यह धन तथा वह धन सब अपने

दूसरे अतिथियों या पण्डितों को देने की कृपा करें। हमें तो आप उस आत्मरूप वैश्वानर का ज्ञान बतायें, जिसका अध्ययन आपने बहुत गहराई के साथ किया है।'

राजा चुप हो गया। मुनियों की उत्कट ज्ञान-पिपासा को जान कर उसे परम प्रसन्नता हुई। उसने कहा—'मुनिवर वृन्द! आप सब को आत्मरूप वैश्वानर का ज्ञान बतलाने की शक्ति मुझमें नहीं है राज-काज और ब्रह्म चिन्तन में बड़ा अन्तर होता है, फिर भी अपनी बुद्धि के अनुकूल अपनी परीक्षा दूँगा। मैं चाहता हूँ कि आप सब बहुत दूर से अनेक कठिनाइयों को झेल कर यहाँ आए हुए हैं, खूब विश्राम कर लें तो कल प्रातःकाल इस विषय पर विशेष चर्चा की जायगी।'

कुलपतिगण सहमत हो गये। राजा अश्वपति मंत्री और कोशाध्यक्ष के साथ उन वस्तुओं को लेकर अतिथिशाला से बाहर चला आया। दूसरे दिन कुलपति लोग हाथों में समिधा लेकर शिष्य भाव से खुद राजा अश्वपति के पास पहुँचे क्योंकि उन्हें आज उसी से शिक्षा ग्रहण करनी थी। उनको समीप आते देख कर राजा सब को बैठने का उचित स्थान दिया और सबसे पहिले वयोवृद्ध उपमन्यु के पुत्र प्राचीन शाल से पूछा—'औपमन्यव! सबसे पहिले मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।'

प्राचीनशाल ने उत्तर दिया—'राजन्! मैं तो सर्वदा स्वर्ग की उपासना में लीन रहता हूँ।'

अश्वपति ने कहा—'औपमन्यव! जिस स्वर्ग रूप आत्मा की उपासना में आप सदा लीन रहते हैं वह विश्वात्मा का ही तेजोमय रूप है। वैश्वानर का अर्थ ही है समस्त चराचर जगत् में व्यापक ब्रह्म। यही कारण है कि आपके घर में सोमरस का समुचित प्रयोग होता है और आप अन्न को खाकर भली-भाँति पचाने में समर्थ होते हैं। प्रिय वस्तुओं का दर्शन भी उसी तेज से करते हैं। आपकी तरह जो व्यक्ति विश्वात्मा रूप वैश्वानर की उपासना इस प्रकार स्वर्ग के

रूप में करता है वह रुचि के साथ अन्न भक्षण करता है और उसे भलीभाँति पचाने में समर्थ भी होता है, वही प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है और उसी का वंश वैदिक महिमा से सर्वदा उज्जवल रहता है। स्वर्ग ही आत्मा का शीर्षस्थान अर्थात् शिर है, पर यदि आप उसके ज्ञान की प्राप्ति के लिए इस प्रकार विनीत शिष्य के वेश में मेरे पास न आए होते तो निश्चय ही अभिमान एवं अज्ञान के कारण आपका शिर धड़ से अलग हो गया होता, क्योंकि वह स्वर्ग तो विश्वात्मा का एक अंश मात्र है, न कि सम्पूर्ण अंग।'

राजा अश्वपति की उक्त मर्मभरी वाणी सुन कर प्राचीनशाल का रहा-सहा गर्व भी गल गया। उनकी आँखों से अहम्मन्यता का नशा उतर गया। भीतर मन में एक ज्योति-पुंज सा भासमान होने लगा। वह शिर झुका कर खड़े रह गये। राजा ने उसके बाद प्रलुप्त पुत्र सत्य यज्ञ से इशारा करके पूछा—'मुनिवर! आप तो वेदज्ञों में प्रधान माने जाते हैं। मैं जानना चाहता हूँ कि आप किस आत्मा की उपासना में रात-दिन लगे रहते हैं।'

सत्ययज्ञ ने विनीत स्वर में उत्तर दिया—'राजन्! मैं तो तीनों बेला में भगवान् भास्कर की आराधना किया करता हूँ।'

राजा अश्वपति ने कहा—'मुनिवर! आप जिस भास्कर रूप आत्मा की उपासना में तीनों बेला लगे रहते हैं वह वैश्वानर रूप आत्मा का ही स्वरूप है। यही कारण है कि आपके कुल में अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। रथों को खींचने वाले घोड़े या खच्चर आपकी आज्ञा का पालन करते हैं। आपकी दासियाँ भी मूल्यवान मुक्ताओं का हार पहनती हैं। आप सुरुचिपूर्ण अन्न को खाकर भली-भाँति पचाने में समर्थ हैं और सदा प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं। आपकी तरह जो व्यक्ति इस रूप में वैश्वानर रूप आत्मा की उपासना करता है वह भी अन्न खाकर पचाने में समर्थ होता है और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है। उसके वंश में वैदिकों की महिमा सदा छाई रहती है और

वही भास्कर वैश्वानर आत्मा की आँख है। पर यदि आप मेरे पास ज्ञानप्राप्ति के लिए न आये होते तो अज्ञानता और अभिमान के कारण निश्चय ही आपकी दोनों आँखें फूट जातीं क्योंकि भास्कर (सूर्य) उस वैश्वानर आत्मा का केवल एक अंश है, पूर्ण अंश नहीं। उन्हें पूर्ण समझने का दण्ड तो आपको भुगतना ही पड़ता; पर अच्छा हुआ कि आप समय रहते सचेत हो गये।'

सत्ययज्ञ की जिज्ञासा शान्त हो गयी, वह चुपचाप निर्निमेष नेत्रों से राजा अश्वपति के तेजोमय मुखमण्डल की ओर देखने लगे। तदनन्तर राजा ने भल्लव के पुत्र आचार्य इन्द्रद्युम्न की ओर संकेत करते हुए कहा—'भाल्लवेय! आप तो पूज्य आचार्य व्याघ्रपाद के वंशज हैं, जिनका पवित्र नाम आज भी वेदज्ञानियों में श्रद्धा के साथ लिया जाता है। आप स्वयं सहस्रों विद्यार्थियों के आचार्य और वेदों की महिमा के पूर्ण जानकार हैं। मैं आपसे भी यह जानना चाहता हूँ कि आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?'

इन्द्रद्युम्न ने निःसंकोच उत्तर दिया—'राजन्! मैं तो सदा गतिशील रहने वाले वायुदेव की उपासना करता हूँ, क्योंकि मेरी दृष्टि में वही सब से महान् महिमामय हैं।'

अश्वपति ने कहा—'भाल्लवेय! आप जिस वायुरूप आत्मा की उपासना करते हैं वह विश्वात्मा वैश्वानर के विभिन्न पथों में बहने वाला है। इसीलिए आपकी आज्ञा के अनुसार अनेक राजाओं की सेनाएँ विविध क्षेत्रों में गमन करती हैं और अनेक तरह के रथों की पंक्तियाँ आपके पीछे-पीछे चलतीं हैं। आप रुचि के साथ सुस्वादु भोजन करके उसे पचाते हैं और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं। आपकी तरह जो व्यक्ति इस रूप में विश्वात्मा की उपासना करता है वह भी रुचि के साथ भोजन करके पचाता है और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है। यही नहीं उसके विपुलवंश में वैदिकों की अपार महिमा सदा छाई रहती है। वायु उस विश्वात्मा का प्राण-स्वरूप है। यदि आप ब्रह्म

के पूर्ण ज्ञान के लिए मेरे पास यहाँ तक न आते तो अभिमान और अज्ञानता के कारण आपके प्राणों की गति ही रुक जाती।'

आचार्य इन्द्रद्युम्न को अपने उच्च वंश एवं ब्रह्मज्ञान का सचमुच बड़ा अभिमान था। राजा की उक्त बातों से आज उन्हें पहली बार अपनी अल्पज्ञता का बोध हुआ। लज्जा से अवनत मुख होकर वह अपने पैर से जमीन कुरेदने लगे। तदनन्तर राजा ने उनकी बगल में बैठे हुए शर्कराक्ष के पुत्र जन को संकेत करते हुए पूछा—'शार्कराक्ष्य! मैं जानना चाहूँगा कि आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?'

विनीत स्वर में जन बोले—'राजन्! मैं तो सर्व शक्तिमान् आकाश की उपासना करता हूँ।'

राजा अश्वपति ने कहा—'भद्र! आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं वह विश्वात्मा का व्यापक रूप है। उसी में उसके अनेक रूपों का समावेश हुआ है। यही कारण है कि आप संपत्ति और संतति से भली तरह भरे-पुरे हैं। यही कारण है कि आप रुचि के साथ सुस्वादु भोजन करते हैं और उसे भली-भाँति पचा लेते हैं। जो भी व्यक्ति आपकी तरह इस आकाश रूप में वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह रुचि के साथ सुस्वादु भोजन करता है और उसे भली-भाँति पचा लेता है, उसके विशाल कुल में सदा वैदिक महिमा छाई रहती है और वह सर्वदा प्रिय वस्तुओं और प्रियजनों का दर्शन करता है। यह आकाश उस वैश्वानर आत्मा का धड़ है। यदि आप मेरे पास पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए न आए होते तो अज्ञानता और अभिमान के कारण आपका भी धड़ सूख जाता, क्योंकि आप केवल वैश्वानर आत्मा के एक ही अंग की उपासना कर रहे थे और उसे पूर्ण समझने का स्वाँग भर रहे थे।'

आचार्य जन बाहर से कुछ लज्जित-से पर भीतर-भीतर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने हाथ जोड़ कर राजा अश्वपति से कहा—'राजन्! आप बिल्कुल सच कह रहे हैं। मेरा अभिमान सचमुच बहुत बढ़

गया था। आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की।'

तदनन्तर राजा अश्वपति ने अश्वतर के पुत्र आचार्य बुडिल की ओर हाथ उठा कर कहा—"भद्र! आप आत्मा के किस स्वरूप की उपासना करते हैं?'

बुडिल ने विनम्र भाव से कहा—'राजन्! मैं तो जल की उपासना करता हूँ, क्योंकि मेरी दृष्टि में उससे बढ़ कर शक्तिमान् कोई दूसरी आत्मा नहीं है।'

राजा ने कहा—'महाशय! आप सच बात कह रहे हैं। आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं वह वैश्वायर आत्मा का वैभव है। यही कारण है कि आप श्रीसम्पन्न और पुष्टिमान् हैं। आपके रुचि-पूर्वक भोजन करने और उसे भली भाँति पचाने का भी यही कारण है। आप भी इसीलिए सदा प्रिय जनों एवं प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं। आपकी तरह जो व्यक्ति इस जल रूप में विश्वात्मा की उपासना करता है वह सुस्वादु भोजन को अच्छी तरह पचाता है और सदा प्रियजनों एवं प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है उसके कुल में आप ही की तरह चिरकाल तक वैदिकों की महिमा छाई रहती है। किन्तु यह सब होते हुए भी वह जल उस विश्वात्मा का निम्न भाग है। यदि आप अभिमान एव अज्ञान में उसी अल्पज्ञान के भरोसे पड़े रहते और मेरे पास न आते तो आपके शरीर का निम्न भाग नष्ट हो जाता है।'

बेचारे बुडिल सहम कर अरुण के पुत्र उद्दालक की ओर ताकने लगे। तदनन्तर राजा ने उद्दालक की ओर लक्ष्य करके कहा—'भद्र! आप तो ब्रह्मज्ञानियों में सब से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, मैं आपसे भी यही पूछ रहा हूँ कि भला आप किस आत्मा की उपासना में सदा लगे रहते हैं?'

उद्दालक ने निःसंकोच भाव से कहा—'राजन्! मैं तो पृथ्वी की उपासना करता हूँ, क्योंकि इसी पर समस्त चराचर जगत् टिका हुआ है।'

राजा अश्वपति ने उद्दालक को भी आड़े हाथों लिया। उसने कहा—'आरुणि! आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं वह वैश्वानर का चरणप्रान्त वा प्रतिष्ठा है। यही कारण है कि आप भी विपुल संतति और असंख्य पशुओं द्वारा प्रतिष्ठित हैं। यही कारण है कि आप रुचि के साथ भोजन करके उसे भली-भाँति पचाने की भी शक्ति रखते हैं और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं। जो व्यक्ति विश्वात्मा की उपासना आपकी तरह पृथ्वी रूप में करता है वह भी रुचि के साथ भोजन करके उसे पचाता है और सर्वदा प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है। उसके विपुल वंश में चिरकाल तक ब्रह्मज्ञान की महिमा छाई रहती है किन्तु जैसा कि मैं कह रहा हूँ यह पृथ्वी उस विश्वात्मा का चरण प्रान्त है। यदि आप उसे ही सम्पूर्ण विश्वात्मा समझ कर मेरे पास ज्ञान के लिये न आये होते तो आपके चरणों की चलने की शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई होती।'

उद्दालक भी चुप होकर इधर-उधर बगलें झाँकने लगे।

तदनन्तर राजा अश्वपति ने उन छहों आचार्यों को संबोधित करते हुए कहा—महानुभाव! आप लोग वैश्वानर आत्मा को इस तरह अनेक रूपों में समझ कर अन्न ग्रहण करते हैं। पर जो व्यक्ति उसके उस विश्वरूप की उपासना करता है, जो पृथ्वी से आकाश तक के समस्त प्रदेशों में छाया हुआ है और जो 'अहम्' का मूल बीज रूप है वह समस्त स्वरूपों में और समस्त लोकों में और समस्त आत्माओं में अन्न ग्रहण करता है। आप में और उसमें यही भेद है।'

कुलपतियों में से वयोवृद्ध प्राचीनशाल ने विनीत स्वर से फिर पूछा—'राजन्! उस विश्वात्मा के विराट स्वरूप को हम यथार्थ रूप में किस प्रकार जान सकते हैं।'

राजा अश्वपति ने कहा—'औपमन्यव! ध्यान देकर सुनिये। उस अखिल जगद्व्यापी जगदात्मा वैश्वानर का शिर स्वर्गलोक है, नेत्र सूर्य है। प्राण वायु है। धड़ आकाश है। निम्न भाग जल है

और चरण प्रान्त पृथ्वी है। यज्ञों की वेदी उसकी छाती है। कुशा उस की रोमावलि हैं। गार्हपत्य अग्नि उसका हृदय है, भोजन पचाने वाली जठराग्नि उसका मन है और आहवनीय अग्नि उसका मुख है! उस आहवनीय अग्नि में जो कुछ भी पदार्थ पहले डाला जाता है वही प्रथम आहुति है। उससे प्राण तृप्त होता है।'

दूसरे आचार्य सत्ययज्ञ ने पूछा—'राजन्! प्राण के तृप्त होने से क्या होगा?'

अश्वपति ने कहा—'भद्र! प्राण की तृप्ति से ही नेत्रों की तृप्ति होती है और नेत्रों की तृप्ति से आदित्य भास्कर तृप्त होते हैं। उनकी तृप्ति से स्वर्गलोक तृप्त होता है और स्वर्गलोक की तृप्ति से उन सबकी तृप्ति होती है जो सूर्य और स्वर्ग के भरोसे बैठे हुए हैं। उन सबकी तृप्ति से यज्ञकर्त्ता की तृप्ति होती है और वह संतति, पशु, सम्पत्ति, अन्न तेज और वास्तविक ब्रह्मज्ञान की महिमा से पूर्ण होता है। इसी प्रकार फिर उसी आहवनीय अग्नि में व्यान वायु के लिए दूसरी आहुति डालनी चाहिये, जिससे कर्णेन्द्रिय की तृप्ति होती है।'

कर्णेन्द्रिय की तृप्ति की बात इन्द्रद्युम्न की समझ में ठीक से नहीं आयी। वह बोले—'राजन्! कर्णेन्द्रिय की तृप्ति का क्या फल होता है?'

अश्वपति ने कहा—'भाल्लवेय! उन कर्णेन्द्रियों की तृप्ति से चन्द्रमा तृप्त होता है। चन्द्रमा के तृप्त होने से दसों दिशाएँ तृप्त होती हैं और दसों दिशाओं की तृप्ति से उन सब की तृप्ति होती है जो चन्द्रमा और दिशाओं के भरोसे पर रहते हैं। उन सब की तृप्ति से ही यज्ञकर्त्ता की वास्तविक तृप्ति होती है और तब वह पशु, सम्पत्ति, संतति, अन्न, तेज और ब्रह्म की महिमा से विमण्डित होता है। हे भद्रो! इसी प्रकार उस आहवनीय अग्नि में अपान वायु की तृप्ति के लिए तीसरी आहुति भक्ति समेत डालनी चाहिए, जिससे वाणी की तृप्ति होती है।'

वाणी की तृप्तिवाली बात शर्कराक्ष के पुत्र आचार्य जन के मन

में नहीं बैठी वह विनीत वाणी में बोले—'राजन्! वाणी की तृप्ति से भला यज्ञकर्त्ता को क्या फल मिलेगा?'

अश्वपति ने कहा—'शार्कराक्ष्य! वाणी की तृप्ति से अग्नि की तृप्ति होती है। अग्नि की तृप्ति से पृथ्वी तृप्त होती है। और पृथ्वी की तृप्ति से उन सब की तृप्ति होती है जो पृथ्वी और अग्नि के भरोसे जीवन धारन करते हैं। उन्हीं सब की तृप्ति होने से यज्ञ करने वाले की वास्तविक तृप्ति होती है और तभी वह संतति, पशु, सम्पत्ति, अन्न और तेज से पूर्णकाम होकर ब्रह्म महिमा से समन्वित होता है। हे सौम्य! इसी प्रकार आहवनीय अग्नि में चतुर्थ आहुति समान वायु के उद्देश्य से डालनी चाहिए, जिससे मन तृप्त होता है।'

आचार्य बुडिल ने कहा—'राजन्! मन की तृप्ति से क्या होगा?

राजा अश्वपति ने कहा—'भद्र! मन की तृप्ति से मेघ की तृप्ति होती है और मेघ की तृप्ति से बिजली की तृप्ति होती है। बिजली की तृप्ति से उन सब प्राणियों की तृप्ति होती है जो मेघ और बिजली पर जीवन निर्भर करते हैं। और उन्हीं सब की तृप्ति से यज्ञकर्त्ता की वास्तविक तृप्ति होती है। और उसे तभी संतति, पशु, सम्पत्ति, अन्न तेज और अपार ब्रह्म-महिमा की प्राप्ति होती है। सौम्य! इसी प्रकार उस आहवनीय अग्नि में पाँचवीं आहुति उदान वायु की तृप्ति के लिए देनी चाहिए, जिससे वायु की तृप्ति होती है।'

वायु की तृप्तिवाली बात को सुन कर अरुण के पुत्र उद्दालक ने पूछा—राजन्! भला वायु की तृप्ति से यज्ञकर्त्ता को क्या फल मिलेगा?'

राजा ने कहा—'आरुणि! वायु के तृप्त होने से आकाश तृप्त होता है और आकाश की तृप्ति से उन सब जीव समूहों की तृप्ति होती है, जो वायु और आकाश पर जीवन निर्भर करते हैं। और उन्हीं सब की तृप्ति होने पर यज्ञकर्त्ता की वास्तविक तृप्ति होती है, और उसे विपुल संतति, सम्पत्ति, पशु, समृद्धि, अन्न, तेज और ब्रह्मबल की सच्ची

प्राप्ति होती है। आचार्यों ! जो व्यक्ति इन बातों को जाने बिना यज्ञया-गादि करता है उसको वैसा ही फल मिलता है जो दहकते अंगारों को छोड़ कर राख की ढेर पर आहुति डालता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति इन सब बातों को भली-भाँति समझ-बूझ कर यज्ञ करता है उसका यज्ञ सब लोकों में, सब रूपों में और आत्मा की सब विधियों से समन्वित होता है, उसी को यज्ञ का पूरा फल प्राप्त होता है। जिस प्रकार दहकती आग में पुआल का सूखा तिनका डालने पर तुरन्त भस्म हो जाता है उसी प्रकार इन सब बातों का तत्त्व समझ कर यज्ञ करने वाले व्यक्ति के सब कायिक, वाचिक और मानसिक पाप जल कर अपने आप भस्म हो जाते हैं। हे ऋषियो ! जिस प्रकार भूखे बच्चे अपनी माताओं को प्राप्त कर सुखी होते हैं उसी प्रकार इस जगत् में विविध यातनाओं से घिरा हुआ मानव अग्निहोत्र की शरण में जाकर सुखी होता है और उसी के द्वारा उक्त प्रकार के ब्रह्म का और आत्मा का साक्षात्कार होता है। वह ब्रह्म कहीं अलग नहीं है, यह समस्त चराचर जगत् ब्रह्ममय है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

पाचों कुलपतियों की ग्रन्थियाँ छूट गयीं, शंकाएँ विलीन हो गयीं और कृतज्ञता के अतिरेक से उनके हृदय भर आए।'

× ×

दूसरे दिन प्रातःकाल राजा अश्वपति ने उन्हें अपनी राजधानी से बहुत सम्मान के साथ विदा किया और पहले दिन दी जाने वाली दक्षिणा को अंगीकार करने के लिए बाधित किया। वे सबके सब बड़े प्रसन्न मन से ब्रह्मज्ञान की ग्रन्थि को सुलझा कर अपने-अपने आश्रम को लौट पड़े। लौटते समय उन सब के मन में प्रसन्नता और सन्तोष की लहरें दौड़ रही थीं। आँखों में हरियाली थी और मन में कई गुना उत्साह।[1]

[1] छान्दोग्य उपनिषद से

श्वेतकेतु और उद्दालक

[६]

अरुण के पुत्र उद्दालक की चर्चा पहले की कथाओं में आ चुकी है। वह एक बहुत बड़े कुलपति थे। उनके आश्रम में दूर-दूर देश के सहस्रों विद्यार्थी आकर वेदों का अध्ययन करते थे। पर उनका पुत्र श्वेत-केतु इकलौता होने के कारण बारह वर्ष की उमर तक कुछ भी पढ़-लिख नहीं सका। वह रात दिन खेल-कूद में लगा रहता और आश्रम के विद्यार्थियों को परेशान करता। जब कभी पढ़ाने-लिखाने की कोशिश होती जोर-जोर से रोने लगता और उसकी माता आकर उसे छुड़ा देती। ढलती उमर में पैदा होने के कारण उद्दालक भी विशेष सख्ती नहीं कर सकते थे। उन्हें जब यह निश्चित विश्वास हो गया कि श्वेतकेतु हमारे पास रहकर पढ़-लिख नहीं सकता तो एक दिन एकान्त में बुला कर बड़े प्यार से पूछा— 'बेटा! अब तुम अबोध बच्चे नहीं हो, बारह वर्ष के हो गये, तुम्हारा उपनयन संस्कार भी हो चुका पर अभी तक तुम वेद का एक भी मंत्र नहीं जानते। हमारे कुल में कोई भी ऐसा नहीं पैदा हुआ जिसने वेदों को न पढ़ा हो और केवल जन्म लेने के कारण ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी हो। सोचो, यह कितनी बड़ी लज्जा की बात है कि हमारे पुत्र होकर तुम अब तक बिल्कुल अज्ञ ही बने रहे। हमारे पास दूर-दूर के हजारों विद्यार्थी पढ़ने लिखने के लिये आये हुये हैं हम उन सब के आचार्य हैं, तुम्हें इस रूप में देख कर वे सब अपने मन में क्या सोचते होंगे? हम अब तक सोच रहे थे कि तुम खुद विद्या प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करोगे, इसीलिए कभी कोई सख्ती नहीं की किन्तु दुःख है कि तुम अपने से कौन कहे, धर-पकड़ करने पर भी कुछ नहीं सीख सके। अब हम तुम्हें इस रूप में देखकर सुखी नहीं रह

सकते। हम चाहते हैं कि तुम यहाँ से जाओ और किसी सुयोग्य गुरु के समीप ब्रह्मचारी बन कर वेदाध्ययन करो। पुत्र! हमारी इस अभिलाषा को पूरी करके जब तुम लौटोगे तब हम समझेंगे कि तुम हमारे बाद कुल की मर्यादा को स्थिर रखोगे।'

श्वेतकेतु के निर्मल मानस में पिता के इन वचनों से ग्लानि का उदय हुआ। वह मन में अपनी भूल पर बहुत दुःखी होकर बोला—'पूज्य तात! मेरी भूलों को क्षमा कीजिए। मैंने अज्ञान में घिर कर कभी इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया कि मेरा कर्त्तव्य क्या है? बेकार के खेल-कूद और मनबहलाव में इतने दिनों तक लगा रहा। न तो कभी माताजी ने और न आपने इस तरह मुझे समझाया और न किसी साथी ने ही कभी कुछ बतलाया। जब कभी धर-पकड़ कर पढ़ने लिखने के लिये बैठाया जाता तो मेरे मन में खेल-कूद के छूट जाने का दुःख होता और बचपन के साथियों की याद आती, इसी से तुरन्त रोने लगता और भागने की कोशिश करता। मगर आज मैं अपने किए पर दुःखी हूँ, जीवन के अमूल्य वर्षों को खोकर पछता रहा हूँ। पूज्य तात! मुझे अब शीघ्र ही किसी आचार्य के समीप वेदाध्ययन के लिए जाने का शुभ मुहूर्त बताइये। यह बात सच है कि आपके पास रहकर, उतना नहीं पढ़ लिख सकूँगा जितना किसी अन्य आश्रम में रह कर। क्योंकि यहाँ पर माताजी का स्नेह, साथियों का प्रेम और गृहस्थी के झंझटों से अध्ययन में बाधा पहुँचेगी।'

श्वेतकेतु की बातों को सुन कर उद्दालक को आश्चर्य के साथ-साथ बड़ी प्रसन्नता भी हुई। जिसे वे अभी तक अबोध उद्दंड बालक समझते थे वह कितना मतिमान है, इसकी उन्होंने कभी उम्मीद नहीं की थी। पुत्र को छाती से लगाते हुये बोले—'मेरे वत्स! तुम हमारे उज्ज्वल वंश के प्रकाशमान तारे हो। तुमसे हमें बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।'

दो-तीन दिन बाद श्वेतकेतु शुभ मुहूर्त में वेदाध्ययन के लिए उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल के आश्रम को रवाना हो गया। जाते

समय दयालु पिता ने उसके ऊपर कृपादृष्टि रखने के लिए प्राचीन शाल को एक पत्र लिखा और ममतामयी माता ने भी प्राचीन शाल की पत्नी को पुत्रवत् स्नेह करने की एक चिट्ठी लिखी। आँखों में आँसू भर श्वेतकेतु जब बटुवेश में पिता के आश्रम से बिदा हुआ तो आश्रम के भी विद्यार्थियों ने गुरु और गुरुपत्नी के साथ उसके भावी वियोग में दुःख प्रकट किया और बहुत दूर तक पहुँचाया। माता और पिता ने अपने पारस्परिक प्रेम के प्रतीक को परदेश भेज कर बारह वर्ष बाद पहिली बार गृहस्थी के दुःख का निकट से अनुभव किया। उनकी उदास आँखों में करुणा की धारा थी और विकम्पित हृदय में वात्सल्य का स्रोत। कई दिनों तक वे श्वेतकेतु की याद में विह्वल हो जाते।

श्वेतकेतु प्राचीनशाल के आश्रम में पहुँच कर बहुत जल्द ही घुल मिल गया। पिता और माता के पत्रों ने उसे गुरु के आश्रम में भीतर से लेकर बाहर तक सुख-सुविधा और सन्तोष का सारा साधन इकट्ठा कर दिया। वह गुरुपत्नी को अपनी ममतामयी माता के समान, गुरु को कृपालु पिता के समान और गुरुपुत्रों को सगे भाइयों के समान पा कर अपनी जन्मभूमि को धीरे-धीरे भूल-सा गया और तन मन से अध्ययन में जुट गया।

× × ×

गुरु और गुरुपत्नी के असीम स्नेह का अधिकारी बन कर श्वेतकेतु ने विद्या तो सारी सीख ली पर स्वभाव से वह कुछ अभिमानी भी हो गया जैसा कि उसके लिए स्वाभाविक भी था। उमर में सब से सयाना होने के कारण भी उसकी उद्दण्डता को सहायता मिलती थी। प्राचीनशाल यह बुराई जान-बूझ कर भी कभी श्वेतकेतु को कुछ कहते नहीं थे। वह पढ़ने-लिखने में सब से अधिक तेज, बलवान, आज्ञाकारी, बड़े बाप का बेटा और शरीर से सुन्दर था, इन सब विशेषताओं में उसकी अभिमानी प्रकृति प्राचीनशाल को कभी खलनेवाली नहीं बनी। गुरु और

गुरुपत्नी का समीपी होने के कारण उसके सहपाठी भी उससे बहुत दबते थे। उसकी निरर्गल प्रकृति को इससे भी बड़ी खूराक मिली।

गुरु के आश्रम में रहते हुए उसे पूरे बारह वर्ष बीत गये। उसकी उमर अब चौबीस वर्ष की हो गयी। अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत से उसके तेजस्वी शरीर में कुन्दन की तरह चमक आ गयी। ब्रह्मवर्चस् की आभा प्रदीप्त मुखमण्डल से फूटने लगी। वह व्याकरण आदि छहों अंगों समेत चारों वेदों का प्रकाण्ड पण्डित बन गया। आखिरकार एक दिन शुभ मुहूर्त में प्राचीनशाल ने उसका समावर्तन संस्कार सम्पन्न कर घर जाने की आज्ञा प्रदान कर दी। गुरु के आशीर्वचन, गुरुपत्नी के ममतामय स्नेह-सिंचित शुभ वाक्य और साथियों की शुभ कामनाएँ लेकर वह बारह वर्ष बाद जब आश्रम से विदा हुआ तो आँखो में आँसू भर आये और गला रुद्ध हो गया। पर भीतर ही भीतर चिर वियुक्त ममतामयी माता, पिता और जन्मभूमि के दर्शन की लालसा भी उमड़ पड़ी। मार्ग में चलते-चलते वह पीछे वाले आश्रम की बातें छोड़ कर आने वाले आश्रम की बातें सोचने लगा। व्याकरण आदि छहों अंगों समेत चारों वेदों का उसे इतना अभ्यास हो गया था कि कहीं पर भी पूछने पर तड़-तड़ उत्तर देता और शास्त्रार्थ अपने विपक्षी को निरुत्तर कर देता। पिता के आश्रम में भी सहस्रों विद्यार्थी रहते थे। मार्ग में ही उसने निश्चय किया कि अपने पिता के विद्यार्थियों से शास्त्रार्थ करूंगा और पिताजी को भी अपने योग्यता तथा प्रतिभा से आश्चर्य में डाल दूँगा। इस तरह के विचारों में डूबते ही उसका अभिमानी मन फूल उठा। उसे यह दिखाई पड़ने लगा कि अब वेदों और शास्त्रों में कहीं ऐसा कोई विषय नहीं है जिस पर उसका पूर्ण अधिकार न हो। पिता की भाँति ही उसकी योग्यता भी है, पिता भी तो पंडित ही हैं; कभी उनके ज्ञान-गौरव को भी तौलना होगा। इसी गर्व में भरा हुआ श्वेत-केतु पाँचवें दिन मध्याह्न में अपनी जन्मभूमि के समीप आ पहुँचा। आश्रम के बाल-सहचर पेड़-पौदे और पशुओं में काफी परिवर्तन हो

गया था। साथ खेलने वाले छोटे-छोटे बालक विनीत बटुवेश में काफी सयाने और भद्र बन गये थे। वह भी अब अबोध श्वेतकेतु नहीं था वेदों और शास्त्रों का बड़ा जानकार था। सब से पहले अपने पूज्य पिता के समीप पहुँच कर वह उनके प्यासे अश्रुसिंचित नेत्रों का प्रियदर्शन बना। कृपालु पिता ने अपने चिरवियुक्त हृदय-खण्ड को छाती से लगा लिया और उसके शिर को सूँघते हुये, पीठ पर अपने बाहु-रूपी स्नेह-पाश को फेरते हुये कुशल समाचार पूछा। पर अविनयी श्वेतकेतु पिता को प्रणाम करना भूल गया, उसके मन में उस समय इस बात का द्वन्द्व मचा हुआ था कि पिताजी अभी मेरी पढ़ाई-लिखाई के बारे में क्यों नहीं कुछ पूछ-ताछ कर रहे हैं।

गुरु के आश्रम से अध्ययन समाप्त कर श्वेतकेतु के वापस आने की बात सारे आश्रम में फैल गयी। माता ने आकर उसे छाती से लगा लिया और अपने साथ कुटीर में चलने की बात की। पर श्वेत-केतु को अभी इस बात की उतनी जल्दी नहीं थी कि माता से अपना कुशल समाचार बताये जितनी पिता से अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य और वेदों-शास्त्रों पर अपार अधिकार की चर्चा करने की। पर शील, सदा-चार से विवश होकर वह अन्यमनस्क भाव से माता के साथ कुटीर में चला गया। अनुभववृद्ध उद्दालक को पुत्र की मनोवृत्ति का क्षीण परिचय मिल गया। उसकी अविनीतता उनके कृपालु कोमल सुमन में काँटे की भाँति पहली ही बार चुभने-सी लगी।

\+ \+ \+

सन्ध्या हुई। माता से संध्यावन्दन की आज्ञा प्राप्त कर श्वेतकेतु आश्रम में आया और अपने चिरविरही बाल साथियों से घिर गया जो अब उसी की भाँति शरीर, बल और तेजस्विता में युवा बन गए थे। उनकी पढ़ाई-लिखाई का समाचार पूछते हुए उसने अपनी पण्डिताई की धाक भी उन पर जमा दी। प्रकृति से ही अति सरल और उदार उद्दालक के शिष्यों में अपने गुरु-पुत्र के प्रगाढ़ पाण्डित्य

की चर्चा बढ़ते-बढ़ते उद्दालक के कानों में भी पड़ गयी। उन्हें इस बात से भी एक उलझन ही हुई। रात में सन्ध्यावन्दन आदि से छुट्टी पाकर श्वेतकेतु पिता के समीप आया, उस समय वह कुछ शिष्यों से बातें कर रहे थे। श्वेतकेतु के आने पर शिष्यों ने उठ कर सम्मान प्रकट किया और पिता ने बैठने का आदेश दिया। शास्त्रों की चर्चा के सिवा उद्दालक के आश्रम में दूसरा विषय था ही क्या। सब लोग परस्पर बातें करने लगे। इसी बीच में अवसर का कुछ भी ख्याल न करके श्वेतकेतु ने अपने पिता से भी अपने गम्भीर अध्ययन, पाण्डित्य और सुबोधता की चर्चा की। उद्दालक मन ही मन बहुत दुःखी हो गये। थोड़ी देर बाद शिष्यों को जाने का आदेश देकर श्वेतकेतु के साथ बातें करते हुए वह कुटीर में वापस आये। श्वेतकेतु ने इस बीच में भी अपनी अहम्मन्यता के चार छः छींटें कसे, जिसके उल्टे प्रभाव ने उद्दालक को कुछ और भी विचलित कर दिया। पर प्रशान्त समुद्र में हवा के मामूली झोंकों का असर नहीं हुआ। अपनी उसी गम्भीर प्रकृति के शान्तिपूर्वक वे जाने क्या विचारते रहे।

थोड़ी देर बाद एक शास्त्रीय चर्चा के प्रसंग में उद्दालक ने पूछा—'वत्स! अंगों समेत चारों वेदों और छहों शास्त्रों का भली भाँति तुमने अध्ययन कर लिया है, और जहाँ तक मैं समझता हूँ तुम उन सब पर अपना एकाधिकार भी मानते हो। ठीक है, जिस विषय को तुमने इतने परिश्रम से अधिगत किया है उस पर सन्तोष और आत्मविश्वास तो होना ही चाहिए; पर इस तरह सब के सामने कहने से वेदशास्त्र तुम्हारे ऊपर रुष्ट हो जायँगे क्योंकि वे अभिमानी पात्र में रुकना पसन्द नहीं करते। उनका प्रिय पात्र विनयी, सदाचारी और निरभिमान है।'

श्वेतकेतु को पिता की अटपटी बातें अच्छी नहीं लगीं। बारह वर्ष से अविरोध रूप में बढ़े हुए गर्व वृक्ष को उद्दालक के ये वचन नहीं उखाड़ सकते थे। बल्कि इनके आघात से वह काँप उठा और

अपनी सारी शक्ति के साथ उत्तर देने को प्रस्तुत हो गया। बोला—'तात ! मैंने कौन-सी अविनीतता दिखाई। मेरे किस दुराचरण ने आपको दुःख पहुँचाया और किस अभिमानी बात ने आपको विचलित किया ? जिन वेदों और शास्त्रों का मैंने इतने श्रम से अध्ययन किया है वे मुझ पर कदापि रुष्ट नहीं हो सकते। अपनी योग्यता को बतलाने में मैं अभिमान को नहीं मानता। मैं समझता हूँ कि आपके आश्रम-वासी शिष्यों से मैं अविनयी, असदाचारी और अभिमानी नहीं हूँ। मेरे पूज्य गुरुदेव ने इतनी लंबी अवधि में मुझे कभी टोका तक नहीं।'

उद्दालक के समझ में यह बात आ गयी कि श्वेतकेतु काले हृदय के कारण नहीं वरन् कुसंगति के कारण खराब हुआ है। अभी उसका सुधार सम्भव है। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद वह मृदु स्वर में बोले—'बेटा ! क्या मैं तुमसे कोई बात पूछ सकता हूँ ?'

श्वेतकेतु ने स्वाभाविक स्वर में कहा—'पूज्य तात ! आप किसी भी वेद या शास्त्र की बात मुझसे पूछ सकते हैं ! बारह वर्ष तक जिस के लिए अपना जीवन बिताया है, वे सब ज्ञान कब काम आवेंगे ?'

उद्दालक ने थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद पूछा—'वत्स ! क्या तुमने अपने सर्वज्ञ गुरु से वह विद्या भी सीखी है, जिसके सुनने से न सुना हुआ विषय भी सुनाई पड़ता है, जिसके समझने से न समझा हुआ विषय भी समझ में आ जाता है और जिसके जानने से न जाना हुआ विषय भी जाना जाता है। अर्थात् वह सद्विद्या जो जगत् की तमाम वस्तुओं का आधार है।'

श्वेतकेतु ने क्षणभर में ही सब वेदों और शास्त्रों को मन ही मन उलट डाला; पर कहीं भी उस विद्या की चर्चा आयी तो थी नहीं वह उत्तर किस चीज का देता ! उसका अभिमानी मन लज्जा से गड़ने लगा। सोचा, मेरा मिथ्या अभिमान कितना निराधार और पापमय है।

कुछ देर बाद विनीत स्वर में हाथ जोड़ कर बोला—'तात वह विद्या कौन सी है ! उसका तो मुझे तनिक भी ज्ञान नहीं है। मेरे पूज्य

गुरुदेव ने भी इस विद्या की चर्चा भी नहीं की। ऐसी अनुपम विद्या को मैं सीखना चाहता हूँ। तात ! मेरे अपराधों को क्षमा कीजिये।' ऐसा कहते हुये वह पिता के चरणों पर अंजलि बाँध कर गिर पड़ा। थोड़ी देर पूर्व की उसकी अभिमानी आँखों में ग्लानि के आँसू आ गये और मन में धिक्कार की आवाज गूँजने लगी।

उद्दालक ने श्वेतकेतु को उठाते हुये कहा—'वत्स ! तुम अधीर मत बनो। मैं तुम्हें उस विद्या का उपदेश दूँगा; पर अब से यह बात गाँठ बाँध लो कि इस संसार में अभिमानी का कल्याण नहीं होता। उसके हाथ में रहने वाली वस्तु भी नष्ट हो जाती है। विद्या का स्वभाव ही है कि उसका जानने वाला विनयी सदाचारी और निरभिमानी हो जाता है। जो व्यक्ति विद्या सीख कर भी अविनीत, असदाचारी और अभिमानी रहता है वह कभी विद्वान् नहीं कहा जाता, उसका सर्वत्र अनादर और अपयश होता है।'

श्वेतकेतु ने सिर को नीचे झुका कर विनीत स्वर में उत्तर दिया—'तात ! मेरा अज्ञान दूर हो गया है, आपके चरणों की कृपा से मेरे हृदय से अभिमान का अंधकार दूर हो गया और अब मुझे अपनी सारी कमजोरियाँ दिखाई पड़ रही हैं।'

उद्दालक बीच ही में बोल पड़े—'वत्स ! मेरा अमर्ष मिट गया, तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम्हें उस परम गोपनीय विद्या का उपदेश कर रहा हूँ। ध्यान पूर्वक ग्रहण करो।'

श्वेतकेतु सावधान होकर बैठ गया। पिता की तेजस्विनी वाणी में प्रखर प्रकाश आज उसे पहली बार दिखाई पड़ा। उद्दालक बोले—'वत्स ! जैसे मिट्टी के एक ढेले का ज्ञान हो जाने के बाद संसार में मिट्टी से बनी हुई तमाम वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है और यह भी मालूम हो जाता है कि घड़ा, पुरवा, हाँड़ी आदि मिट्टी से बनी हुई वस्तुएँ केवल कहने भर के लिए अलग-अलग हैं, वास्तव में भिन्न कुछ नहीं हैं उनमें केवल मिट्टी ही सत्य है। इसी तरह जैसे सोने के एक

टुकड़े का ज्ञान होने के बाद उससे बनी हुई तमाम चूड़ी, कड़े, कुण्ड-लादि वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है और यह भी मालूम हो जाता है कि कड़े, कुण्डल, चूड़ी आदि सोने से बनी हुई वस्तुएँ केवल कहने भर के लिये अलग-अलग है, वास्तव में उनमें नाम और रूप के अलावा कुछ भी नहीं है, केवल सोना ही सत्य है। और भी, जैसे लोहे की बनी हुई नाखून काटने वाली नहन्नी के देखने से लोहे का ज्ञान हो जाने के बाद उससे बनी हुई तलवार, फावड़े आदि वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है और यह भी मालूम हो जाता है कि उन तल-वार फावड़े आदि लोहे की वस्तुओं में केवल नाम और रूप का ही फरक है सब में एक मात्र लोहा ही सत्य है, उसी प्रकार यह विद्या भी है, जिसकी चर्चा मैंने की है।'

श्वेतकेतु विस्मय में पड़ गया। बोला—'तात ! निश्चय ही मेरे आचार्य को इस विद्या का ज्ञान नहीं था। क्योंकि यदि वे इसे जानते होते तो मुझसे स्वप्न में भी न छिपाते। भगवन्! आप इस विषय को खूब स्पष्ट करने की कृपा करें।'

'वत्स ! सुनों मैं विस्तारपूर्वक उसे बता रहा हूँ।' यह कह कर श्वेतकेतु से उद्दालक ने फिर कहा—'बेटा ! सृष्टि के आरम्भ में समस्त विश्व केवल 'सत्' रूप में विराजमान् था, अर्थात् इस सृष्टि-चक्र का केवल मूल तत्व ही उस समय विद्यमान् था। वह केवल अकेला था, सृष्टि के समस्त बीज उसमें निहित थे, उसका नाम रूप कुछ नहीं था, अर्थात वह एकदम निर्गुण, निराकार, अव्यक्त और अनन्तव्यापी रूप में विद्यमान था। उसी एक के जान लेने से संसार की सभी वस्तुएँ जान ली जाती हैं।'

श्वेतकेतु ने हाथ जोड़ कर विनीत स्वर में कहा—'पूज्यपाद ! इस सृष्टि-चक्र के पहिले तो कुछ नहीं था। यदि 'सत्' को ही सृष्टि के पहले मान लिया जाय तो उससे पहले क्या था?'

उद्दालक बोले—'सौम्य ! कुछ विद्वानों का ऐसा ही कहना है

कि 'सत्' से भी पहले 'असत्' वर्तमान था अर्थात् उसमें सृष्टि का कोई भी बीज निहित नहीं था। उसी 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति हुई। पर वत्स! जो विद्वान् ऐसा मानते हैं वे भूल करते हैं। यह सर्वथा असम्भव और असंगत बात है। जिसमें सृष्टि का कोई बीज निहित ही नहीं रहेगा भला उससे 'सत्' की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसलिए बेटा! तुम इसे अच्छी तरह समझ लो कि सब से पहले केवल एकमात्र और अद्वितीय 'सत्' वर्तमान था।'

श्वेतकेतु ने सकुचाते हुए पूछा—'तात! तो उस 'सत्' से इस चराचर जगत् की सृष्टि किस प्रकार हुई? जब वह अकेला और अद्वितीय था तो इस विशाल जगत् की उत्पत्ति उसने कैसे कर दी?''

उद्दालक—बोले—'वत्स! उसी 'सत्' ने यह इच्छा की कि मैं अकेला हूँ, बहुत रूपों में हो जाऊँ। यह इच्छा मन में उत्पन्न होने पर उसने सबसे पहले तेज की सृष्टि की। उसी तेज ने फिर यह इच्छा की कि 'मैं बहुत रूपों में व्यक्त हो जाऊँ।' उसके ऐसी इच्छा करने पर फिर जल की उत्पत्ति हुई। यही कारण है कि जब कभी तेज से शरीर में गरमी लगती है तब उसी ताप के कारण पसीना टपकने लगता है। यहाँ तेज अर्थात् उसी ताप के कारण ही जल अर्थात् पसीना की उत्पत्ति हुई।'

श्वेतकेतु ने कहा—'तात! यह बात मेरी समझ में आ गयी। पर जल के बाद फिर शेष सृष्टि किस प्रकार विस्तारित हुई?'

उद्दालक ने उत्तर दिया—'वत्स! उस जल ने जब यह इच्छा की कि 'मैं अनेक रूपों में व्यक्त होऊँ' तो उसके इस प्रकार इच्छा करने पर अन्न की उत्पत्ति हुई। इसीलिए जहाँ कहीं जब कभी वर्षा होती है तब वहाँ अन्न अवश्य उत्पन्न होता है। अर्थात् जल से अन्न की सृष्टि होती है। इन्हीं तीनों पदार्थों से संसार की सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब इन्हीं तीनों की मिलावट से बनी हैं। जहाँ कहीं प्रकाश या गरमी है वहाँ समझ लेना

चाहिए कि तेज पदार्थ की प्रधानता है। जहाँ तरलता या प्रवाह है वहाँ जल पदार्थ की प्रधानता है और जहाँ कठोरता है वहाँ अन्न या पृथ्वी की प्रधानता है। अग्नि में जो तुम लाल, सफेद और काला रंग देखते हो उसमें ललाई तेज की, सफेदी जल की और कालिमा पृथ्वी की चीज है। यही बात सूर्य में, चन्द्रमा में और बिजली में भी जान लो। इन सबमें वही एकमात्र 'सत्' ही विद्यमान है। यदि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और बिजली में से 'सत्' से निकले हुए तेज, जल और पृथ्वी को निकाल लिया जाय तो सब खतम हो जायँ। अग्नि का अग्निपन, सूर्य का सूर्यपन, चन्द्रमा का चन्द्रमापन और बिजली का बिजलीपन बीत जाय, नाम निशान कुछ भी न रह जाय।'

श्वेतकेतु ने बीच ही में पूछा—'तात! प्राणियों के भीतर एक ही पदार्थ किस प्रकार तीन रूपों में अलग-अलग हो जाता है?'

उद्दालक ने प्रसन्न मन से हाथ उठाते हुए कहा—'वत्स! तुमने बड़ी अच्छी बात पूछी। मनुष्य के शरीर में जाकर खाया हुआ अन्न भी तीन भागों में अलग हो जाता है। स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म। उसमें जो स्थूल भाग होता है वह मैला बन जाता है, जो मध्यम भाग होता है वह मांस बन जाता है और जो सूक्ष्म भाग होता है वह मन बन जाता है। इसी तरह पिये गये जल में भी तीन भाग हो जाते हैं। जल का स्थूल भाग मूत्र, मध्यम भाग रक्त और सूक्ष्म भाग प्राण बनता है। तेल, मक्खन, घी आदि बलिष्ट पदार्थों के स्थूल भाग से हड्डी, मध्यम भाग से मज्जा याने हड्डी के भीतर का सार तथा सूक्ष्म भाग से वाणी बनती है। तुम्हारी समझ में यह बात आ गई होगी कि मनुष्य का मन सूक्ष्म अन्नमय है, प्राण सूक्ष्म जलमय है और वाणी सूक्ष्म तेजोमय है। अर्थात् मन अन्न से, प्राण जल से और वाणी तेज से बनी हुई है।'

श्वेतकेतु पिता की इस बात पर कुछ अधिक गम्भीर बन गया।

थोड़ी देर तक सोचता रहा और फिर बोला—'तात ! इस विषय को जरा और साफ करके बतलाइये।'

उद्दालक बोले—'बेटा ! सुनो जैसे दही के मथने पर उसमें छिपा हुआ सूक्ष्म सार भाग ऊपर मक्खन के रूप में तैरने लगता है, इसी प्रकार जो अन्न मनुष्य खाता है पेट में पचते समय उसके सार भाग से मन बन जाता है। जल के सूक्ष्म भाग से प्राण बन जाते हैं और घी आदि तेजोमय पदार्थों के सूक्ष्म भाग से वाणी बन जाती है। असल में ये मन और प्राण शुरू-शुरू में उसी अकेले और अद्वितीय 'सत्' से ही निकले हुए हैं। जिसका स्पष्ट वर्णन में अभी तुम्हारे सामने कर चुका हूँ। वही 'सत्' ही इन सब का मूल आश्रय और अधिष्ठान है। उस एक 'सत्' को छोड़ कर सब केवल कहने भर के लिए अपनी अपनी सत्ता में बने हुए हैं। तुम भी वही 'सत्' ही हो और मैं भी वही 'सत्' ही हूँ। उस 'सत्' अर्थात् आत्मा के अलावा तुममें हममें और कुछ नहीं है।'

श्वेतकेतु ने कहा—'तात ! एक दूसरे दृष्टान्त से भी जरा इस विषय को और स्पष्ट कर दीजिए, क्योंकि यह विषय कुछ गूढ़ मालूम हो रहा है।'

उद्दालक बोले—'वत्स ! सुनो। एक नहीं कई दृष्टान्त देकर समझा रहा हूँ। जैसे शहद की मक्खी अनेक तरह के फूलों के रस को इकट्ठा करती है, और सबके रस मिल कर शहद रूप में बदल जाते हैं और उस हालत में किसी एक फूल का रस यह नहीं जानता कि मैं आम के बौर का रस हूँ या मौलसिरी के फूल का रस हूँ, इसी प्रकार सृष्टि के अन्त में परम सुषुप्ति अवस्था में संसार की सभी जीवात्माएँ उसी 'सत्' वस्तु में मिल जाती हैं तो यह नहीं जानतीं कि हम 'सत्' में मिल गई हैं और मिलने के पहले क्या थीं ? उस 'सुषुप्ति' से जागकर वे फिर अपने-अपने पहले वाले शरीर को प्राप्त करती हैं। वही सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा है और वही 'सत्' है। इसी तरह जैसे

समुद्र के जल से बनी हुई गंगा, जमुना, नर्मदा आदि नदियाँ अन्त में फिर उसी समुद्र में ही मिल जाती हैं और यह नहीं जानतीं कि मैं गंगा हूँ, मैं जमुना हूँ, मैं गोमती हूँ, मैं नर्मदा हूँ, और फिर बादल के द्वारा वृष्टि जल के रूप में समुद्र से बाहर निकल आती हैं किन्तु यह नहीं जानतीं कि हम समुद्र से निकली हैं। इसी प्रकार ये सभी जीव-समूह 'सत्' में से निकल कर 'सत्' में ही फिर लीन हो जाते हैं और फिर उसी में मिलते हैं किन्तु यह नहीं जानते की हम 'सत्' से आये हैं और फिर उसी में मिलेंगे।'

श्वेतकेतु ने पूछा—'तात! मैं आत्मा के 'सत्' से उत्पन्न होने की और फिर उसी में मिलने की बात तो समझ गया। अब मुझे कृपया मृत्यु के बारे में बतलाइये। क्योंकि शरीरधारी तो थोड़े ही दिनों के बाद मर जाते हैं और फिर जन्म लेते हैं तो उस 'सत्' से कैसे बार-बार मिलते हैं और बार-बार अलग होते हैं?'

उद्दालक ने कहा—बेटा! जीवात्मा कभी मरता नहीं। वह एक शरीर से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में बदलता रहता है। और जीव रूपी सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा कहा जाता है। उसे इस तरह से समझो। किसी बहुत बड़े पेड़ की जड़ पर कोई टाँगे की एक चोट करे तो वह सूख नहीं जाता, जीता रहता है और उस चोट में से कुछ दिनों तक रस गिर कर ठीक हो जाता है। पेड़ के बीच में भी छेद करने पर वह नहीं सूखता, जीता रहता है और छेद में से रस गिरता है। जब तक उसमें जीवात्मा व्याप्त रहता है तब तक मूल के द्वारा जल ग्रहण करता हुआ जीता रहता है। जब उस बड़े पेड़ की एक शाखा से जीव निकल जाता है तब वही शाखा सूख जाती है, दूसरी शाखा से निकलने पर दूसरी सूख जाती है और तीसरी से निकलने पर तीसरी सूख जाती है। मगर पेड़ तब तक जीता रहता है जब तक समूल नहीं सूख जाता। जब सारे वृक्ष को जीव छोड़ देता है तब वह सब का सब सूख जाता है और वही उसकी सही मृत्यु कही जाती है। ठीक यही हाल जीवात्मा का है। वह

एक योनि से दूसरी योनि में भटकता रहता है। जब इस समस्त संसार का प्रलय होता है तब वह जीवरूप सूक्ष्म तत्त्व आत्मा भी उस 'सत्' पदार्थ में मिल जाता है। क्योंकि वह स्वयं 'सत्स्वरूप' है।'

श्वेतकेतुबोला—'भगवन्! वह सूक्ष्म 'सत्' इस विशाल संसार का आधार कैसे बन सकता है। इतना बड़ा संसार भला उसमें किस तरह से टिक सकता है? यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है।'

श्वेतसेतु और उद्दालक जहाँ बैठे थे, वहाँ सामने ही एक विशाल बट वृक्ष था, उसके फल पक-पक कर जमीन पर गिरे हुए थे। उद्दालक ने कहा—'बेटा! एक बरगद का फल उठा लाओ, फिर तुझे बताऊँगा।'

श्वेतकेतु फल ले आया। उद्दालक ने कहा—'इसे फोड़ कर देखो, इसमें क्या है?'

श्वेतकेतु ने फल को तोड़ कर कहा—'तात! इसमें बहुत छोटे-छोटे बीज हैं।'

उद्दालक बोले—'वत्स! उनसे से एक बीज ले लो और उसे तोड़कर देखो कि उसमें क्या चीज है?'

श्वेतकेतु ने बट-बीज को तोड़ कर कहा—'तात! इसमें तो मुझे कुछ भी नहीं दिखाई पड़ रहा है।'

उद्दालक ने कहा—'वत्स! इस छोटे बीज में छिपी हुई उस सूक्ष्म वस्तु को हम तुम नहीं देख सकते जो इतने बड़े बट वृक्ष का आधार है। ठीक इसी प्रकार वह सूक्ष्म 'सत्' आत्मा भी इस समस्त विशाल संसार का आधार है उसे हम तुम इस तरह देख नहीं सकते।'

श्वेतकेतु ने कहा—'तात! इस विषय को जरा और स्पष्ट करके बतलाइये, जिससे समझ में आ जाय।'

उद्दालक बोले—'वत्स! जाओ, कुटीर से एक नमक की डली और एक लोटा पानी ले आओ।'

श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया। उद्दालक ने कहा—'बेटा! उस नमक

की डली को उसी लोटे भर पानी में डाल दो और रात भर अपने पास रखो। रात अधिक बीत गई है, अब कल मध्याह्न में फिर इस विषय की चर्चा की जायगी। जाओ, शयन करो।'

श्वेतकेतु पिता के चरणों में शिर झुका कर माता के पास गया और वहाँ से अपने सोने लिए कुश का आसन लेकर सो रहा। उस अँधेरी आधी रात में भी उसके हृदय में चाँदनी की तरह निर्मल प्रकाश फैल रहा था। पिता के गंभीर ज्ञान की गरिमा से वह विस्मय में धँसा जा रहा था।

दूसरे दिन मध्याह्न के समय लोटे को लेकर जब श्वेतकेतु पिता के पास विद्या सीखने के लिए फिर पहुँचा तब वे मुसकराते हुए बोले—'वत्स! कल रात में जो नमक की डली तुमने लोटे में डाली थी उसे निकाल कर मुझे दो।'

श्वेतकेतु ने देखा तो लोटे में डली का कोई नाम निशान बाकी नहीं था। उसने कहा—'तात! डली तो गल गयी, वह पानी में कहाँ से मिल सकती है?'

उद्दालक ने कहा—'अच्छा वत्स! इस जल के एक कोने से थोड़ा-सा चख कर मुझे यह बताओ कि वह कैसा है?'

श्वेतकेतु ने आचमन करते हुए कहा—'तात! यह खारा जल है, क्योंकि नमक इसी में गला हुआ है न!'

उद्दालक ने कहा—'अच्छा! दूसरे कोने से तथा बीच में से भी चख कर बताओ कि वहाँ का जल कैसा है?'

श्वेतकेतु ने दोनों जगहों से आचमन करने के बाद कहा—'यहाँ का जल भी उसी तरह खारा है। मैंन जो नमक इसमें डाला था; वह सब गल कर इसमें व्याप्त हो गया है, उसे मैं देख नहीं सकता, केवल जीभ से स्वाद ले सकता हूँ।'

उद्दालक बोले—'वत्स! जिस तरह से वह नमक की डली इस जल में सब जगह व्याप्त है और तब तक व्याप्त रहेगी, जब तक यह

जल रहेगा, अर्थात् सर्वदा व्याप्त रहेगी, उसे तुम आँखों से नहीं देख सकते, ठीक उसी तरह इस विशाल ससार में व्याप्त उस 'सत्' स्वरूप सूक्ष्म आत्मा को इन आँखों से तुम देख नहीं सकते, सिर्फ अनुभव कर सकते हो ।'

श्वेतकेतु के मन में एक बात फिर उठ खड़ी हुई। वह विनीत वाणी में बोला—'पूज्य तात ! मेरी समझ है सब बातें तो बैठ गयी पर एक बात जानना बाकी है कि जीव किस प्रकार के मार्ग से चल कर उस 'सत्' आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर उसे शीघ्र प्राप्त कर सकता है !'

उद्दालक को पुत्र की इस जिज्ञासा से मालूम हो गया कि वह उनके बतलाए गये विषय को पूरी तरह से समझ गया है और अब उसकी अविद्या दूर हो गई है। वे मुसकराते हुए बोले—'वत्स ! जैसे चोर किसी धनी मनुष्य को लूटने के फेर में उसकी आँखों पर पट्टी बाँध कर उसे बहुत दूर जंगल में छोड़ आता है, जहाँ पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन दिशाओं की भी कुछ पहचान नहीं रहती और वह वहीं अपनी सहायता के लिए चिल्लाता है तो कोई दयालु पुरुष उससे उसका पूरा पता पूछ कर घर की राह बतला देता है और वह उसकी बातों पर विश्वास करके फिर से अपने घर पहुँच जाता है वैसे ही अज्ञान और अविद्या की पट्टी बाँधे हुए काम, क्रोध, लोभ, अभिमान आदि भीषण चोरों के द्वारा संसार रूपी भयंकर बन में छोड़ा हुआ जीव ब्रह्मज्ञानी अच्छे गुरु के दयालुतापूर्वक बताए गए मार्ग पर चलकर अविद्या और अज्ञान के फंदे से छूट कर अपने मूल स्वरूप 'सत्' आत्मा को बहुत जल्दी ही प्राप्त हो जाता है। वह 'सत्' ही इस जगत् का एकमात्र मूल कारण है। वही जानने योग्य है। उसी के सुन लेने से न सुना हुआ विषय भी सुनाई पड़ता है, समझ लेने से न समझा हुआ विषय भी समझ में आ जाता है और जान लेने से न जाना

हुआ विषय भी जाना जाता है। वही 'सत्' ही जगत् की आत्मा है। तुम भी वही हो और मैं भी वही हूँ।

× × ×

श्वेतकेतु की समझ में सब बात आ गयी। इस परम विद्या के शुभ प्रकाश से उसका मानस सुप्रकाशित हो गया। उसने उठ कर अपने पूज्य पिता के चरणों पर अपना शिर रख दिया। कृतज्ञता के आँसू से उसकी दोनों आँखें भर आयीं और रोमावलि खड़ी हो गयी।[1]

---

[1] छान्दोग्य उपनिषद् से।

अश्विनीकुमार और उनके गुरु दध्यङ्

(११)

अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य कहे जाते हैं। ये दो भाई हैं, नासत्य और दस्र। ये दोनों भगवान् भास्कर अर्थात् सूर्य के पुत्र कहे जाते हैं। पुराणों में तो इनकी उत्पत्ति की कथा भी बड़ी विचित्र बतलाई गयी है। कहा जाता है कि ये दोनों भाई अश्विनी अर्थात् घोड़ी का रूप धारण करने वाली भास्कर (सूर्य की पत्नी संज्ञा से उत्पन्न हुए हैं। एक तरह से यमराज यमुना भी इनके बड़े भाई और बड़ी बहिन हैं। शायद यमराज अर्थात् मृत्यु के भाई होने के कारण ही ये देवताओं के बहुत बड़े वैद्य कहे गये हैं। ये दोनों भाई देखने में सभी देवताओं से अधिक सुन्दर और हृष्टपुष्ट थे। सदा अपने बनाव सिंगार में लगे रहते थे और अपनी विद्या और योग्यता के अभिमान में दूसरे देवताओं का प्रायः, अपमान कर दिया करते थे। इतना ही नहीं, एक बार तो इन दोनों भाइयों ने देवताओं के राजा इन्द्र का भी अपमान कर दिया था और अपनी विद्या के नशे में उन्मत्त होकर उन्हें खूब डाँटा-फटकारा भी था। कहा जाता है कि इसी कारण से इन्द्र ने यज्ञों के भाग से इनका एक दम बहिष्कार कर दिया था और आज तक इसीलिए यज्ञ-यागादि में इनका आवाहन कम होता है या बिल्कुल ही नहीं होता। इन्द्र के साथ इनकी दुश्मनी इसी कारण से बहुत बढ़ गई थी।

अश्विनीकुमार के गुरु दध्यङ् अथर्वण ऋषि थे, जिनके गुरुदेव स्वयं अथर्वा ऋषि थे। दध्यङ् ऋषि वेदमंत्रों के बनाने वाले ऋषियों में से थे। वह बहुत बड़े ब्रह्मज्ञानी तथा महात्मा थे। अपनी शिष्य मंडली में यद्यपि वह दोनों अश्विनीकुमारों की बुद्धि और प्रतिभा पर बहुत प्रसन्न रहते थे मगर सारी विद्या पढ़ाने के बाद भी उन्होंने ब्रह्मविद्या का उप-

देश उन्हें नहीं किया था, क्योंकि वह जानते थे कि ये दोनों अश्विनी कुमार सदा अपने लौकिक ऐश्वर्य और बनाव सिंगार में लगे रहनेवाले विद्यार्थी हैं, और ऐसे विद्यार्थी को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना कुत्ते को गंगा स्नान कराने के समान है।

लौकिक विद्याओं में अर्थात् वैज्ञानिक चीर-फाड़ और दवा-दारू में दोनों अश्विनी कुमार इतने प्रवीण हो गए थे कि विद्यार्थी जीवन में ही उनका चारों तरफ नाम हो गया था। अपने इस अभिमान में डूब कर वह ब्रह्मविद्या सीखने की बहुत चेष्टा भी नहीं कर सके। इन्द्र का अपमान कर देने के कारण सब देवता लोग जब इनके ऊपर जी-जान से नाराज हो गये और एकमत होकर यज्ञ में इनको न सम्मिलित करने पर उतारू हो गये तब अश्विनीकुमारों की आँखें खुलीं। इन्होंने इसके लिये बहुत दौड़-धूप और कोशिश पैरवी भी की मगर सफलता नहीं मिल सकी। उसका एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि यह ब्रह्मविद्या के जानकार नहीं हैं और भौतिक विद्या के अधिकारी को यज्ञ में सम्मिलित करना यज्ञ का अपमान करना है। इस तरह कोशिश-पैरवी के बाद भी जब ये लोग एकदम निराश हो गये तब अपनी भूल पर दुःखी हुए और अपने पूज्य गुरु दध्यङ् ऋषि के पास पहुँचे।

गुरु ने अपने प्रिय छात्रों का बड़ा सम्मान किया और कुशल प्रश्न के बाद उनके आने का कारण पूछा। दोनों भाई हृदय में इस अपनाम से बहुत दुःखी तो थे ही। गुरु से बातें करते समय उनकी आँखों से अमर्ष के आँसू निकलने लगे, गला रुद्ध हो गया और मुख मण्डल लाल वर्ण का हो गया। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद विकम्पित स्वर से बड़े भाई नासत्य ने कहा—'गुरुदेव! अभिमानी देवराज हमसे हृदय में बहुत जलन रखता है। और वह फूटी आँखों से भी हमें देखना पसन्द नहीं करता। बहुत दिन हुए एक बार उससे हम लोगों की कहा-सुनी हो गई थी, उसी बात की कसर वह निकालना चाहता है और यज्ञ-यागादि से हमारा बहिष्कार करवा रखा है। इस

अपमान जनक स्थिति में हमारा देवलोक में रहना भी दूभर बन गया है। हम चाहते हैं कि उससे इस अपमान का बदला चुकाएँ'

दध्यङ् ऋषि लोक व्यापारों से विमुख रहने वाले जीव थे। शिष्यों की उत्तेजक बातें उनके कानों में पड़ कर विलीन हो गयी। न तो उनके चेहरे पर कुछ विकार हुआ न वाणी में शिष्यों के प्रति कोई सहानुभूति अपने स्वाभाविक गम्भीर स्वर में वह बोले—'वत्स! देवलोक का राजा है। उसके प्रति दुर्भावना रखना ही तुम्हारा घोर अपराध है। किसी से भी ईर्ष्या-द्वेष करना तुम्हें शोभा नहीं देता। यज्ञ में संसार से विरक्त रहने वाले देवताओं को भाग मिलता है। उन्हें ब्रह्म विद्या का पूर्ण जानकार भी होना चाहिये, तुम दोनों में यह विशेषताएँ नहीं हैं। ऐसी दशा में यदि तुम लोग यज्ञ में निमंत्रित नहीं किए जा रहे हो तो कोई कुपद नहीं हो रहा है। यज्ञ में भाग प्राप्त करने के लिये पहले तुम्हें काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, पाखण्ड और द्वेष आदि मानसिक बुराइयों से दूर होने का प्रयत्न करना चाहिये। तुम लोगों का हृदय साफ नहीं है। लोक-व्यापारों में इतनी ममता और आसक्ति रख कर तुम लोग यज्ञ में भाग नहीं प्राप्त कर सकते। मैं इस कार्य में देवराज की शिकायत सुनना पसन्द नहीं करता।'

दोनों भाइयों की आशा का पहाड़ ढह गया। गुरु के अलावा उनका सच्चा हितैषी कोई दूसरा नहीं था। एक दिन की शिक्षा और अभ्यास से जीवन भर की अपनाई गयी बुराइयाँ तो दूर हो नहीं सकती थीं। उनके हृदय में तूफान उठ कर वाणी से बाहर निकलने को विवश करने लगा। छोटे भाई दस्र ने हाथ जोड़ कर कहा—'पूज्य गुरुदेव! इन्द्र से इस घोर अपमान का बदला चुकाये बिना हमारे हृदय की जलन शान्त नहीं हो सकती। हमें यज्ञ में भाग मिले या न मिले मगर इन्द्र से बदला चुकाना तो बहुत जरूरी काम है। आप ऐसी किसी औषधि या विद्या की जानकारी हमें कराइये। जिससे इन्द्र का

मानमर्दन हम कर सकें। उसके बाद ही हम अपनी बुराइयाँ छोड़ सकते हैं।'

दध्यङ् ने मुसकराते हुए दाहिना हाथ उठा कर कहा—'आयुष्मान् वैसी विद्या या औषधि तुम्हारे गुरुदेव के पास नहीं है, जिसका उपयोग देवराज के मानमर्दन में या वैर-निर्यातन में हो। बुराइयाँ सन्तोष, मनोनिग्रह और इच्छाओं के दमन से दूर हो सकती हैं। बदला चुका लेने के बाद फिर तुम कभी शान्त नहीं हो सकते। देवराज अमरों का स्वामी है, उसकी शक्ति-सामर्थ्य अजेय और निस्सीम है। यह बदला चुकाये जाने के बाद क्या चुप रहेगा? और उस हालत में तुम्हारी शान्ति सदा के लिये दूर हो जायगी और नयी-नयी बुराइयाँ उठने लगेंगी। जीवन नरक बन जायगा। इसलिये मेरा सुझाव है कि तुम लोग जाकर मन और इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास करो। दुनिया में किसी से भी ईर्ष्या-द्वेष मत करो, सन्तोषी बनो और हिंसक स्वभाव सदा के लिये छोड़ दो।'

बड़े भाई नासत्य से नहीं रहा गया। हाथ मलते हुये वह बोला—'पूज्य गुरुदेव! आप की शिक्षा तो हम शिर से धारण करते हैं मगर इन्द्र ने हमारा जो अपमान किया है उसे भूल जाना हमारे लिए सम्भव नहीं है। जब हृदय में आग जलती रहती है तो मन या इन्द्रियों में सन्तोष की वृत्ति कैसे आ सकती है? हम यह मानते हैं कि वैर-शोधन के बाद हमें इन्द्र से सदा के लिये झगड़ा मोल लेना पड़ेगा और हमारे जीवन की शान्ति विदा हो जायगी मगर कोई ऐसा उपाय तो आप को बताना ही पड़ेगा जिससे हमारा खोया हुआ अधिकार हमें फिर वापस मिले। हम देवराज से वैर चुकाना नहीं चहते पर अपना अधिकार छोड़ कर जीवित रहना भी हमारे लिए कठिन है। गुरुदेव! जाति का अपमान सबसे कठिन होता है, उसको भूलना आप जैसे ब्रह्मर्षियों से ही सम्भव हैं, हम से नहीं।'

दस्र बड़े भाई नासत्य का मुँह ताकने लगा। उसे यह बात बहुत पसन्द नहीं आयी पर करता क्या ?

दध्यङ को अपने प्रिय शिष्य की इस प्रार्थना में सत्य और स्वाभाविकता की कुछ गंध मिली। कुछ देर तक वह जाने क्या विचारते रहे, फिर बोले—'आयुष्मन्! तुम्हारी यह बात मुझे जँच रही है, इसका उपाय तुम्हें बता रहा हूँ पर याद रखो कि उसे तुम्हें मानना पड़ेगा।'

नासत्य ने हाथ जोड़ विनीत स्वर में कहा—'गुरुदेव! आप की आज्ञा का उल्लंघन करना हमारे बस की बात नहीं है।'

दध्यङ बोले—'आयुष्मन्! यज्ञ में तुम्हारे खोये गये अधिकारों की प्राप्ति तुम्हें दो उपायों से ही हो सकती है। पहला उपाय तो बहुत आसान है पर मुझे विश्वास नहीं है कि तुम लोग हमारा कहना मानोगे।'

नासत्य ने कहा—'आचार्य! मैं प्राण देकर भी आप की आज्ञा पूरी करूँगा।'

दध्यङ ने कहा—'वत्स! पहला उपाय यही है कि तुम लोग ब्रह्म विद्या प्राप्त करने के अधिकारी बनो और अपने सहज अधिकारों से यज्ञ भाग के उपभोक्ता बनो। पर जानते हो तुम्हारा जीवन सात्विक नहीं है और असात्विक जीवन वाले को ब्रह्म विद्या की कदापि प्राप्ति नहीं हो सकती। मैं तुम्हें ब्रह्मविद्या सिखाने की प्रतिज्ञा तो कर लेता हूँ पर इस शर्त पर कि तुम काम, क्रोध, ईर्ष्या, मोह द्वेषादि को जीत कर स्वल्प सन्तोषी और लौकिक व्यापारों से अनासक्त बन कर मेरे पास आओ। इस साधना के लिए तुम्हें मैं बारह वर्ष की अवधि दे रहा हूँ। धीरे-धीरे इन्द्रियों को वश में करते-करते तुम तब तक उस स्थिति में पहुँच जाओगे जिसमें ब्रह्मविद्या की प्राप्ति सम्भव होती है।'

छोटे भाई दस्र को गुरु दध्यङ की बातें नहीं भाईं। वह बीच ही में बोल पड़ा—गुरुदेव! हमें कृपा करके वह दूसरा उपाय बताइये।'

नासत्य चुपचाप छोटे भाई की ओर ताकने लगा।

दध्यङ ने कहा—'वत्स दस्र! दूसरा उपाय कुछ कठिन है पर तुम अध्यवसायी हो, उसे भी साध्य कर सकते हो, सुनो महात्मा च्यवन नाम के एक ऋषि हैं। उनकी पत्नी सुकन्या एक बड़े राजा की पुत्री है। वे महात्मा च्यवन अपनी घोर तपस्या से त्रैलोक्य को विचलित कर चुके हैं। सुरराज इन्द्र तो उनका नाम सुनते हुए काँपता है। च्यवन की आँखें फूट गई हैं, उनका ऐहिक जीवन दुःखमय हो गया है, इसी चिन्ता में उनका शरीर सिथिल हो गया है; यदि तुम लोग उनकी आँखें अच्छी कर सको और उन्हें शरीर से निरोग बना सको तो मुझे विश्वास है कि वे तुम्हें यज्ञ में भाग दिलाने की व्यवस्था बाध सकेंगे। उनका तपःतेज संसार में कोई भी काम करा सकता है, उसके लिये यह तो बहुत मामूली बात है।'

कुमार दस्र मारे खुशी के नाच उठा। फूटी हुई आँखें बना देना और रोगी को नीरोग तथा पुष्ट बना देना उसके बाएँ हाथ का काम था। बड़े भाई नासत्य की ओर देखते हुए बोला—'तात! मुझे यही उपाय सरल मालूम पड़ रहा है। हम बहुत जल्दी ही महात्मा च्यवन को चंगा करके अपनी कामना पूरी कर सकेंगे। चलिए, चलें, अब देर करने की जरूरत नहीं है।

नासत्य को भी छोटे भाई की बात अच्छी लगी। उसने हाथ जोड़ कर दध्यङ से जाने की आज्ञा माँगते हुए कहा—'गुरुदेव! मुझे अब उन महात्मा च्यवन का आश्रम बताइये। आपने जो उपाय हमें बताए हैं हम उन दोनों को पूरा करने की कोशिश करेंगे।'

दध्यङ बोले—'आयुष्मन्! आजकल महात्मा च्यवन का आश्रम बदरी वन में गंगाद्वार के समीप है। क्या तुम अभी तक उनका आश्रम भी नहीं जानते थे? जाओ, तुम्हारी कामनाएँ सफल होंगी। पर वत्स! यह याद रखना कि इन दोनों में से किसी भी उपाय में प्रति-हिंसा या बदला लेने की भावना से नहीं बल्कि अपने अधिकारों को प्राप्त करने की भावना से ही प्रयत्न करना, तभी सच्ची सफलता भी

मिलेगी। ईर्ष्या और द्वेष का काँटा जब तक मन में बना रहता है तब तक सफलता मिलने पर भी सच्ची शान्ति नहीं मिलती और बिना शान्ति के सच्चा सुख नहीं मिलता।'

दोनों अश्विनीकुमार अपने गुरु दध्यङ के चरणों पर शीश रखकर वदरीवन की ओर रवाना हो गये। उस समय उनके हृदय में उल्लास की तरंगे लहरा रही थीं।

× × ×

देवताओं के स्वामी इन्द्र को एक हजार आँखे कही जाती हैं। उसका मतलब यह है कि वह बड़े चतुर, नीतिमान और त्रैलोक्य भर में होने वाली बातों की सदा खबर रखते थे। दोनों अश्विनीकुमारों के मन में जो मैल भरी थी उसका उन्हें पहिले ही से पूरा पता था। इधर दध्यङ ऋषि के साथ दोनों भाइयों को जो बात हुईं वह भी उन्हें उसी क्षण मालूम हो गयीं। ब्रह्मर्षि दध्यङ के ब्रह्मज्ञान और त्याग की कथा तथा च्यवन की तपस्या और ब्रह्मतेज की बात से भी वह मन ही मन बहुत पहले से ही घबराते थे। दोनों अश्विनोकुमारों के अशिष्ट स्वभाव का हाल उन्हें मालूम ही था इसलिए ज्योंही सब बातें मालूम पड़ी तुरन्त ही उन्हें विफल बनाने में वह तत्पर हो गये।

रात में अपने पुरोहित के साथ दध्यङ के पास चलने की बात पक्की करके प्रात:काल होते-होते अपने पुष्पक विमान पर चढ़ कर वह उनके आश्रम में पहुँच गये। महर्षि दध्यङ उस समय अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। आश्रम में देवराज के समागम को सुन कर चारों ओर खलबली मच गयी। जो जहाँ थे वहीं से दौड़ कर चारों ओर घेर कर खड़े हो गये। महर्षि दध्यङ को जब देवराज इन्द्र के अपने आश्रम में आने का समाचार मालूम पड़ा तो वह भी महान् अतिथि के सत्कारार्थ शिष्यों के साथ अगवानी के लिए आगे बढ़े। देवराज ने ब्रह्मर्षि को अपनी ओर आते देख कर स्वयं आगे बढ़ कर दण्डवत् प्रणाम किया। विरागी दध्यङ के मन में इन्द्र की इस विनी-

तता का बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। उन्होंने उसे अपने दोनों हाथों से उठाकर छाती से लगाया और कुशल प्रश्न किये। नीतिमान सुरराज सब के सामने मन की बात क्यों कहता। वह मुसकराते हुए बोला—'ब्रह्मर्षे! यों ही आप के दर्शनों की बहुत दिनों से इच्छा थी, आज मौका निकाल कर चल पड़ा। आप जानते ही हैं हमारे शिर पर इतने झंझट हैं कि कभी शिर उठाने की भी फुर्सत नहीं मिलती। बहुत इच्छा करके भी कहीं आ जा नहीं सकता।'

दध्यङ मुसकराते हुए अपने कुटीर की ओर चलने का संकेत करते हुए बोले—'देवराज। अधिकार की रक्षा करना मामूली काम नहीं है, इतने बड़े साम्राज्य का भार ढोने वाला कभी सन्तोष और सुख कैसे भोग सकता है? आपने बड़ी कृपा की जो हमारे आश्रम को सनाथ किया। इतने बड़े अतिथि के शुभागमन से हम वनवासी आज कृतार्थ हुए।'

बातें करते-करते ब्रह्मर्षि अपने कुटीर के द्वार पर पहुँच गए, शिष्यों ने सुरराज के बैठने के लिए आसन बिछा दिया और समयोचित उपचारों से उनका अतिथि-सत्कार सम्पन्न किया। थोड़ी देर बाद दध्यङ की आज्ञा से पूरे गुरुकुल में ऐसे महान् अतिथि के शुभागमन के बदले में छुट्टी कर दी गयी, अध्ययन बन्द करके सारी शिष्य-मण्डली खेल कूद और सैर-सपाटे में लग गयी।

थोड़ी देर तक विश्राम कर लेने के बाद ब्रह्मर्षि ने इन्द्र से कहा—'देवराज! हमारे शास्त्रों ने अतिथि पूजा की महिमा का बड़ा गुणगान किया है। हम वनवासियों के यहाँ आप जैसे महान् सम्राट का जो शुभागमन हुआ है उसकी प्रसन्नता हमारे मन में है। हम आप की सेवा करने के लिये सर्वथा तैयार हैं। कहिये, हमारे लिए क्या आज्ञा है?'

सुरराज उत्तर में पहले तो चुप बने रहे फिर महर्षि की ओर थोड़ी देर तक देखने के बाद बोले—'ब्रह्मर्षे! मैं एक अभिलाषा लेकर आप की सेवा में आया हुआ हूँ, उसे पूर्ण कर आप मुझे सुखी बनाइये।'

दध्यङ ने कहा—'देवराज ! हम आप की सेवा करने के लिये सर्वथा तैयार हैं। साधारण अतिथि भी हमारे पूज्य माने गए हैं तो फिर आप जैसे महान् अतिथि की एक बात को पूरी करके मैं अपने कर्त्तव्य का पालन ही करूँगा, उसमें आप कोई निहोरा न मानें !'

सुरराज इन्द्र की मनचाही बात हो गयी। अपने मायाजाल में वह पूरी तरह दध्यङ को फँसा लेने के बाद हाथ जोड़ कर विनीत स्वर में बोले—'मैं आप से ब्रह्मज्ञान की दीक्षा लेना चाहता हूँ। यद्यपि हमारी दृष्टि में इस संसार में अनेक ब्रह्मज्ञानी हैं; किन्तु आपके समान वीत-राग, उदार, मनस्वी और ब्रह्मनिष्ठ गुरु मुझे कहीं नहीं मिलेगा। राज-काज के झंझटों से अवकाश लेकर मैं इसी कार्य के लिये आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। अब इसमें देर न कीजिये, आज बहुत अच्छा मंगल मुहूर्त है, मुझे आज ही उस पावन विद्या का अधिकारी बना कर कृतार्थ कीजिये।'

ब्रह्मर्षि दध्यङ अब पूरी तरह से फँस चुके थे। लोक-व्यापारों एवं मायाजल में रात-दिन लगे रहने वाले, कूटनीतिज्ञ, विलासी और हिंसाप्रिय सुर-सम्राट् को ब्रह्मदीक्षा देना उनकी दृष्टि में महान् पाप था। इसे वे ब्रह्मविद्या का अपमान करना मानते थे; पर अतिथि को जब एक बार पूज्य मान कर वचन दे चुके तो विचलित किस तरह हो सकते थे। बड़ी देर तक इसी उधेड़-बुन में वह लगे रहे। संकल्प-विकल्प की लहरों के थपेड़ों में पड़ कर उनका विवेक चिन्ता के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। आँखें इन्द्र की ओर से हट कर ऊपर फैले हुए विशाल आकाश मण्डल में चारों ओर फैली हुई शून्यता निरखने लगीं।

देवराज से देर तक चुप नहीं रहा गया। बहुत देर तक दध्यङ को चुप्पी साधे देख कर बोले—'ब्रह्मर्षे ! अब वचन देकर आप अन्यथा नहीं कर सकते ! आप जैसे सर्वदर्शी महात्मा यदि अपने वचन की रक्षा में टाल-मटोल करेंगे तो मैं समझता हूँ लोक से सत्य और वचन-मर्यादा की लीक चली जायगी। मैं यह विचार मन में पक्का करके अमरावती

से चला हूँ किया तो आप से ब्रह्मविद्या की दीक्षा ले कर लौटूँगा या यहीं आश्रम में रह कर जीवन को नष्ट कर दूँगा। आप का मौन मुझे चिन्तित कर रहा है, शीघ्र ही अँगीकार कर मुझे निश्चिन्त बनाने का अनुग्रह करें।'

ब्रह्मर्षि दध्यङ सुरराज इन्द्र के गम्भीर शब्दों को बड़ी कठिनाई से सुन सके। बहुत सोचने-विचराने के बाद उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद बोले—'सुरराज! महान् अतिथि के नाते हमनें जो वचन तुम्हें दे दिया है उसका पालन तो करेंगे ही, शरीर रहते उसे अन्यथा करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है, किन्तु जिस चिन्ता में हम डूब रहे हैं वह यह है कि इस ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने के लिए तुम्हें साधना की आवश्यकता पड़ेगी। अभिमानी मन और चंचल इन्द्रियों को लेकर तुम उस परम गोपनीय ब्रह्मविद्या की मर्यादा कैसे सुरक्षित रख सकोगे? कहाँ तुम्हारा त्रैलोक्य व्यापी साम्राज्य और कहाँ वह लोक से विराग पैदा करने वाली ब्रह्मविद्या! दोनों का सामञ्जस्य तुम कैसे स्थिर रखोगे। हम चाहते हैं कि इसके लिए तुम फिर अच्छी तरह सोच-समझ लो तब बाद में हम तुम्हें दीक्षित करें!

सुरराज में इतनी क्षमता कहाँ थी। बीच ही में बोल पड़े—'ब्रह्मर्षे! मुझे इतना अवकाश नहीं है कि इसे सोचने के लिए फिर प्रतीक्षा करूँ। मैं एक बार जिस चीज के लिए पक्का कर लेता हूँ उसमें बार-बार बुद्धि लगाने की आवश्यकता नहीं समझता। आप को इसी बार ब्रह्म-विद्या की दीक्षा करनी पड़ेगी। मैं यहाँ से उसे बिना प्राप्त किए वापस नहीं लौटूँगा।'

दध्यङ ने जब देखा कि अब छुटकारा पाने के लिए कोई उक्ति या युक्ति बाकी नहीं है तो बोले—'सुरराज! अच्छी बात है। आज आप आश्रम में निवास करें। कल प्रातःकाल आप को उस ब्रह्मविद्या की दीक्षा देंगे। पर उसके लिए आवश्यक है कि आप इन व्यर्थ के

वस्त्रों और अलंकारों को उतार कर रख दें और रथ समेत सारथी आदि अनुचरों को लौटा कर छात्रों की भाँति कौपीन और मेखला धारण करें। हाथ में समिधा लेकर पवित्र तन मन और वचन से हमारे पास दीक्षा लेने के लिए आएँ।'

कोई दूसरा चारा न देख, दूसरे दिन प्रातःकाल इन्द्र बहुत विवश होकर अपने परम प्रिय वस्त्रों और अलंकारों को दूर रख कर वटु वेश में जब दध्यङ के पास ब्रह्मविद्या की दीक्षा लेने के लिए पहुँचे तो आश्रम-वासियों को इस पर बड़ा कुतूहल हुआ। पर स्वयं दध्यङ के मन में इन्द्र की इस विनीतता से कोई हर्ष नहीं हुआ और न इन्द्र ही को उनकी इस महान् कृपा पर कोई प्रसन्नता हुई क्योंकि एक जबर्दस्ती निश्चित किए गए पथ पर दोनों ही अनमने-से चल रहे थे। एक को अपना वचन पूरा करना था और दूसरे को अपना घोर स्वार्थ साधना था।

× × ×

आखिरकार दध्यङ् को अपना वचन पूरा करना पड़ा। इन्द्र ने कपटी मन से ब्रह्मविद्या की दीक्षा तो ग्रहण की पर उसे कोई मानसिक सन्तोष या शान्ति अन्त तक नहीं मिली। एक दिन उपदेश करते समय दध्यङ् ने भोग विलास की निन्दा करते हुए इन्द्र की बराबरी एक कामी कुत्ते से की और बताया कि जो मनुष्य इस संसार में जन्म लेकर अपना स्वार्थ साधने में लगे रहते हैं और भोग विलास को छोड़कर जिनके जीवन का कोई दूसरा उद्देश ही नहीं होता उनका जीवन सिवा दुःख, अशान्ति और असन्तोष के और कुछ नहीं है।

इन्द्र ऐसी ब्रह्मविद्या को जान कर क्या करते जिसमें उनके ऐश्वर्य एवं भोग विलास को कुत्ते का जीवन बताया जाय। जिस ऐश्वर्य, सुख और भोग-विलास आदि की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े ऋषि तपस्या करते-करते जिन्दगी बिता देते हैं और तिस पर भी उसे नहीं पाते वह कुत्ते का जीवन किस प्रकार हो सकता है? उन्होंने मन में सन्देह किया कि ब्रह्मर्षि अपने प्रिय शिष्य अश्विनीकुमारों की प्रेरणा से मेरा

अपमान कर रहे हैं। इनका हृदय पक्षपात के कारण कलुषित हो गया है। मेरा इतना घोर अपमान त्रैलोक्य में कहीं नहीं हुआ। मन में इस सन्देह के अंकुर ने थोड़ी ही देर में वैर वृक्ष का रूप धारण कर लिया। उनकी आखें लाल हो गयीं, नाक से गरम उच्छ्वास निकलने लगे और मुख मण्डल पर लालिमा छा गयी। बड़ी कठिनाई से भी वह अपने को रोक नहीं सके, जमीन पर से उठ कर खड़े हो गए और बोले—'महर्षे! बस कीजिए, मुझे इससे अधिक अपमानित मत कीजिए, अन्यथा आप की खैर नहीं? त्रैलोक्य में रहने वाले किसी भी प्राणी में इतनी शक्ति या हिम्मत नहीं है कि मेरे सामने इस तरह की बातें करे। गुरु होने के कारण मैंने आपकी सारी आज्ञाओं का आँख मूँद कर पालन किया। पर उसका यह तात्पर्य नहीं है कि मेरा आत्माभिमान मर गया है और मैं इतना हीन बन गया हूँ कि आप जो कुछ कहें चुपचाप सुनता चलूँ।'

दध्यङ् का संसार में किसी से भय तो था नहीं। अपने स्वाभाविक स्वर में बोले—'देवराज! हमें संसार में आप ही पहले व्यक्ति मिले हैं जो ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बाद भी इतने असन्तुष्ट और अशान्त हैं। हमने किसी राग-द्वेष वश भोगों की निन्दा नहीं की है। आप जो चाहें कर सकते हैं, हमें किसी से भय नहीं है।'

इन्द्र को महर्षि दध्यङ् के इस अविनय से और भी क्रोध आ गया। स्वर को रूक्ष और कठोर बनाते हुए वह बोले—'महर्षे! आज अनेक कारणों से मैं आप को छोड़ दे रहा हूँ मगर यदि फिर कभी किसी को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश आप करेंगे तो उसी क्षण अपने वज्र से आप का शिर तोड़ दूँगा।'

दध्यङ् के मन पर इन्द्र के इस दुर्व्यवहार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह पूर्ववत् शान्त बने रहे क्रोध या क्षोभ की क्षीण रेखा भी नहीं उठी। मुसकराते हुए वह बोले—'सुरराज! बहुत अच्छी बात है,

जब हम किसी को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करें तो हमारा शिर तोड़ दीजिएगा।'

क्रोध से पागल इन्द्र के मन पर महर्षि दध्यङ् की इस क्षमा और शान्ति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। पर एक बार उत्तेजित होने के बाद तुरन्त क्षमा माँगना उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं था। वह तुरन्त ही वहाँ से उठे और बिना ही प्रणाम आदि किए अपनी राजधानी की ओर रवाना हो गये।

× × ×

उधर महर्षि च्यवन के आश्रम में पहुँच कर अश्विनीकुमारों ने अपने कौशल और बुद्धि-बल से उनकी आँखें ठीक कर दीं और उन्हें जवान के समान सुन्दर, स्वस्थ और शक्ति-सम्पन्न बना दिया। सुकन्या और उसके पिता को इससे अपार खुशी हुई। च्यवन के आनन्द का कोई वारापार न रहा। मारे खुशी के वह नाच उठे। अश्विनी-कुमारों से प्रसन्न होकर वह बोले—'तात! आप लोगों की इस महान् कृपा को हम जीवन भर भूल नहीं सकते। हमारे जीवन को सुखी बना कर आप लोगों ने न केवल हमें सन्तुष्ट बनाया है बल्कि सुकन्या और उसके पिता की भी बहुत विपत्तियाँ इससे दूर हो गई हैं। आप लोग इसके बदले में हमसे जो कुछ भी वरदान चाहें माँग सकते हैं।'

दोनों भाई बहुत प्रसन्न हुए! उनके मन की चिर अभिलाषा पूरी हुई। च्यवन की तपस्या का प्रभाव और महत्त्व की चर्चा वे पहले ही सुन चुके थे। थोड़ी देर तक बहुत कुछ सोच-विचार कर छोटे भाई दस्र ने कहा—'महर्षे! यदि आप सचमुच हमारे ऊपर प्रसन्न हैं तो हमें यज्ञों में भाग प्राप्त करने का अधिकारी बनाएँ। देवराज ने ईर्ष्यावश हमारे विरोध में इतना दूषित प्रचार किया है कि सभी देवताओं के साथ ऋषियों ने हमें यज्ञ-भाग प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया है। इस जातीय अपमान से हम बहुत दुःखी हैं।'

बड़े भाई नासत्य उस समय महर्षि च्यवन के मुख की ओर ताक

रहे थे। दक्ष की बातें सुन कर च्यवन बोले—'आयुष्मन्! आप की इच्छा पूर्ण होगी। हम शीघ्र ही एक बहुत बड़े यज्ञ में आपको यज्ञ-भाग का अधिकारी बना कर सदा के लिए वह मर्यादा स्थिर कर देंगे। देवराज का हमें कोई भय नहीं है। उनकी शक्ति का मुकाबला करने में हम नहीं डरते, आप लोग निश्चिन्त रहें।'

× × ×

महर्षि च्यवन ने अपनी बात पूरी की। देवराज ने इसमें विघ्न पहुँचाने की जी जान से कोशिश की मगर सब बेकार रहा। यहाँ तक कि मार पीट की भी नौबत आ गई थी पर कोई फल नहीं निकला। यज्ञ में अश्विनी कुमारों को भाग मिल गया और इन्द्र का मान मर्दन हो गया।

× × ×

यज्ञ में भाग प्राप्त कर अश्विनीकुमारों का अमर्ष शान्त हो गया। अब वह अपने गुरु महर्षि दध्यङ् के वचनों पर विश्वास रख जीवन की साधना में लीन रह कर ब्रह्म विद्या प्राप्त करने की योग्यता की तैयारी में लग गये। उन्हें अपनी इस साधना में सफलता भी मिली। चारों ओर जगत् में उनके स्वभाव के परिवर्तन की प्रशंसा होने लगी। देवताओ में भी उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। जहाँ जाने पर पहले कोई सीधी बात भी नहीं पूछता था वहाँ उनका स्वागत-समादर होने लगा। लोक व्यापारों से भी उनको विराग होने लगा और अब बनाव सिंगार की भावना भी समाप्त हो गयी। अपने मृदु वचन, सदाचरण, सरलता, दया, शान्ति, सन्तोष, अहिंसा आदि सद्गुणों से वे बहुत सफल बन गये। अशान्ति और असन्तोष की आग उनके निर्मल मानस से सदा के लिए बुझ गयी।

इस प्रकार वैराग्य आदि साधनों से सुसम्पन्न होकर वे दोनों भाई अपने गुरु महर्षि दध्यङ् के पास पहुँचे और ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए अपनी उत्कट इच्छा प्रकट करते हुए विनीत प्रार्थना करने लगे। महर्षि दध्यङ् बड़े असमंजस में पड़ गये। अश्विनीकुमारों के

व्यवहार से उन्हें यह मालूम तो हो गया कि ये अब ब्रह्म विद्या को प्राप्त करने के सच्चे अधिकारी बन गए हैं, पर कठिनाई इन्द्र के अमर्ष की थी। एक ओर वचन देकर भी योग्य शिष्यों को ब्रह्मविद्या न सिखाने का पाप लगता था और दूसरी ओर इन्द्र के वचन का उल्लंघन करने के कारण उनको एक ब्रह्महत्या के लिए विवश करने का दोष लगता था। इस दुविधा में पड़ कर वह बड़ी देर तक उलझे रहे और शिष्यों से इन्द्र के साथ हुए अपने विवाद की कथा बतलाते हुए बोले—'वत्स! हमें प्राणों का मोह नहीं है, वचन असत्य होने की अपेक्षा मृत्यु की गोद में सो जाना अच्छा है। तुम्हारे साथ की गयी प्रतिज्ञा का पालन करना हमारा धर्म है; पर इन्द्र को विवश होकर हमारी हत्या करनी पड़ेगी, यह भी एक पाप हमारे शिर लगेगा। ऐसी विषम स्थिति में हमें कुछ निश्चित कर लेने दो। आज आश्रम में शान्तिपूर्वक रहो, कल प्रातः हम अपना निश्चित कर्त्तव्य करेंगे।'

अश्विनीकुमारों को गुरु की विवशता का जब पता लगा तब वह बहुत दुःखी हुए; पर विवेक और बुद्धि ने उनका साथ नहीं छोड़ा। थोड़ी देर बाद छोटे भाई दस्र ने कहा—'गुरुदेव! यदि ऐसी विवशता है तो मुझे उस ब्रह्म विद्या की कोई आवश्यकता नहीं है जिसके लिए आपको शरीर छोड़ना पड़े।'

दध्यङ् ने दस्र की ओर देख कर मुसकराते हुए कहा—'वत्स! इस नाशमान् संसार में जिसने भी जन्म लिया है वह एक न एक दिन मृत्यु की शरण में तो जायगा ही। अपने किये गए कर्मों का फल तो उसे भोगना ही पड़ेगा। क्योंकि यह कर्मभूमि है। अच्छे या बुरे कर्मों का फल भोगने के लिए ही जीव को यहाँ आना पड़ता है। मृत्यु एक निश्चित चीज है। उससे डर कर कोई बच नहीं सकता। आज या आज के सौ वर्ष के भीतर किसी न किसी दिन उसका सामना करना पड़ेगा ही। उससे जो डरता है वह कायर और पापात्मा है। मनुष्य को अपने कर्त्तव्यों पर दृढ़ रहते हुए यदि मृत्यु प्राप्त हो जाय तो उससे अच्छी

मृत्यु मिल ही नहीं सकती। वत्स! यह मृत्यु है क्या, इसे जान लेने के बाद उससे कोई नहीं डरता!'

दक्ष को गुरु के इस वचन पर कुछ विस्मय-सा हुआ। वह बीच ही में बोल पड़े—'गुरुदेव! मैं मृत्यु के उस स्वरूप को जानना चाहता हूँ, जिसे जान लेने के बाद उससे कोई नहीं डरता।'

दध्यङ बोले—'वत्स! मृत्यु से केवल शरीर भर बदलता है, आत्मा तो अजर, अमर और अविनाशी है। उसे कोई मार नहीं सकता। जिस तरह पुराने वस्त्र को छोड़ कर मनुष्य नया वस्त्र धारण करता है उसी तरह पुराने शरीर को छोड़ कर आत्मा भी नया शरीर धारण करता है। जिस तरह अच्छा दाम या श्रम लगाने पर अच्छा वस्त्र और कम दाम या श्रम लगाने पर मामूली वस्त्र मिलता है उसी तरह अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार आत्मा को भी अच्छे और बुरे शरीर मिलते हैं।'

बड़े भाई नासत्य ने हाथ जोड़ कर कहा—'गुरुदेव! कुछ भी हो पर आपके इस शरीर से संसार का जितना कल्याण हो रहा है, उसे देखते हुए उसकी सब प्रकार से रक्षा करना ही हमारा परम धर्म है!'

दक्ष बोले—'गुरुदेव! मुझे इन्द्र का बिल्कुल भय नहीं है, मैं उन्हें असफल कर दूँगा। आप निश्चिन्त रहें।'

नासत्य उत्सुकता से दक्ष की ओर ताकने लगे। दक्ष ने कहा—गुरुदेव! हम अलग किए गए अंगों को जोड़ कर जीवित कर देने की विद्या जानते हैं। इसलिए एक कौशल करते हैं, जिससे न आपकी मृत्यु होगी और न हमें ब्रह्मविद्या से वंचित रहना पड़ेगा।'

दध्यङ् ने कहा—'यह भला किस प्रकार सम्भव होगा?'

दक्ष बोले—'गुरुदेव! हम एक घोड़ा लाते हैं और पहले उसका शिर धड़ से उतार लेते हैं। फिर आपका शिर उतार कर उस पर रख देते हैं और उसका शिर आपके धड़ पर रख देते हैं। आप उसी घोड़े वाले शिर द्वारा हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। इस पर यदि

इन्द्र आकर आपके घोड़े वाले शिर को काट देगा तो हम आप का शिर घोड़े पर से उतार कर आप को फिर जीवित कर देंगे और घोड़े के शिर से घोड़े को भी जीवित कर देंगे। न आप मरेंगे न घोड़ा मरेगा और न इन्द्र को ही ब्रह्महत्या का पाप लगेगा।'

नासत्य चुपचाप अपने छोटे भाई की बातों को सुन कर मन ही मन प्रसन्न हो रहा था। दध्यङ को यह प्रस्ताव स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हुई।

×   ×   ×

इस प्रकार दध्यङ ने घोड़े के शिर से ब्रह्मविद्या का सम्पूर्ण उपदेश सम्पन्न कर अश्विनीकुमारों को पूर्ण ब्रह्मज्ञानी बना दिया। अब उन्हें यज्ञ से वहिष्कृत करने की बात कोई नहीं उठा सकता था। इधर इन्द्र को अश्विनीकुमारों को दध्यङ द्वारा ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का जब समाचार मिला तब वह क्रुद्ध होकर अपनी राजधानी से दौड़ पड़े। और पहुँचते ही बिना कुछ पूँछे क्रूर वज्र से उनके घोड़े वाले शिर को धड़ से काट कर अलग कर दिया। पर अश्विनीकुमारों ने अपनी संजीवनी विद्या द्वारा घोड़े के धड़ पर लगे हुए अपने गुरु के शिर को उतार कर उन्हें इन्द्र के सामने ही पुनः जीवित कर दिया और जमीन पर छटपटाते हुए घोड़े के शिर को उसके धड़ पर रख कर उसे भी जीवित कर दिया।

देवराज इन्द्र ने चकित भीत नेत्रों से देखा कि महर्षि दध्यङ सुप्रसन्न मुख से उनकी ओर ताक रहे हैं और घोड़ा हिनहिनाता हुआ अपने पैर से जमीन कुरेद रहा है। वह बहुत लज्जित होकर शिर नीचे किए हुए चुपचाप अपनी राजधानी की ओर वापस लौट गये। दोनों अश्विनीकुमारों की बहुत दिनों की मनःकामना पूरी हुई और महर्षि दध्यङ को भी इससे बहुत सन्तोष हुआ। दो-चार दिन गुरु के आश्रम में रह कर अश्विनीकुमार जब अन्तिम दीक्षा प्राप्त कर अपने घर वापस जाने की आज्ञा मांगने लगे तो दध्यङ ने सुप्रसन्न मन से उन्हें विदा

करते हुए कहा—'कुमार ! जाओ, तुम्हारे मार्ग मंगलमय हों। सदा सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय से कभी विमुख मत होना। जो कर्म निन्दारहित हैं, उन्हें ही करना, निन्दित कर्म कभी भूल कर भी न करना। बेटा ! छल, छिद्र, ईर्ष्या, द्वेष से सदा आग की तरह बचते रहना—ये जलाने वाली वस्तुएँ हैं। परोपकार से सदा प्रीति बनाए रखना, इसके समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। यहाँ तक कि अपने शत्रुओं से भी भरसक मित्र का भाव रखना, यही इस विद्या को प्राप्त करने का सुफल है। इन्हें कभी धोखे में भी मत भूलना।'

नासत्य और दस्र महर्षि दध्यङ के इस उपदेशामृत को अवहित चित्त से पान कर उनके चरणों पर अन्तिम बार शिर झुका कर अपने आश्रम के पथ पर अग्रसर हो गये। उस समय उनके निर्मल मानस में सन्तोष और शान्ति की सुषमा छाई हुई थी। उनके निसर्ग प्रसन्न सुमन से वैर का कांटा निकल चुका था। अब उनकी बाहरी दृष्टि में चारों ओर हरी-भरी सृष्टि आनन्द समुद्र में निमज्जित हो रही थी और भीतरी दृष्टि में, हृदय के किसी अज्ञात कोने में भी कालिमा की कोई क्षीण रेखा नहीं दिखाई पड़ रही थी*।

---

*तैत्तिरीय ब्राह्मण, बृहदारण्यक और पुराणों से—

उपनिषदों के चार अमर सन्देश

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । क्षुरस्यधारा
निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

भाइयों ! उठो, जागो और अपने अभीष्टों को प्राप्त करो, जब तक तुमको अपना अन्तिम अभीष्ट न मिल जाय, कदापि न रुको अथवा इस विषय में श्रेष्ठ जनों के समीप जा कर उनके अनुभव प्राप्त करो। छुरे की तेज धार के समान जीवन के महान् लक्ष्य का दुर्गममार्ग अति कठिनाई से प्राप्त होता है, बड़े-बड़े विद्वानों, पण्डितों एवं ऋषियों मुनियों तक ने यही बात कही है ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥

जब मनुष्य के हृदय से चिरकाल के बसी हुई कामनाएँ छूट जाती हैं, तब वह अमरता को प्राप्त करता है अर्थात् तब उसे मृत्यु का भय नहीं रह जाता और इसी मर्त्यलोक में अथवा इसी मनुष्य योनि में वह शाश्वत् ब्रह्म की प्राप्ति करता है। इसी प्रकार जब हृदय से सारी सन्देह छल छिद्रादि की गाठें टूट जाती हैं, तब वह अमर हो जाता है। बस, इतना ही सभी शास्त्रों का निचोड़ है।

सत्यं वद । धर्मं चर । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥

श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात् ।

ये तत्र ब्राह्मणाःसमदर्शिनः युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन तथा तत्र वर्तेथाः—एष आदेशः ॥

[प्राचीनकाल में शास्त्रीय शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद गुरुजन अपने छात्रों को किस प्रकार उपदेश करते थे, इसे उक्त पंक्तियों में बताया गया है—]

सदा सत्य बोलना। धर्म करना। कभी भूल कर भी सत्य से बे-परवाही मत करना, धर्म से बे-परवाही मत करना। किसी की भलाई करने से अथवा कार्य में निपुणता प्राप्त करने से बे-परवाही मत करना। अपनी उन्नति की ओर कभी उपेक्षा मत करना। कभी पढ़ने और पढ़ाने से उपेक्षा मत करना।

माँ को देवता मानना। पिता को देवता मानना। आचार्य को देवता मानना। अतिथि को देवता मानना। जिनकी कोई कभी निन्दा न कर सके, ऐसे कामों को करना, किसी ऐसे कामों को कभी मत करना जिनकी लोग निन्दा करें। हमारे जो अच्छे काम कहे जाते हैं, जिनकी संसार में प्रशंसा होती है उन्हीं का अनुकरण तुम भी करना, किसी निन्दित वा अप्रशंसित काम का अनुकरण कभी मत करना।

जो कुछ किसी को देना उसे श्रद्धा से देना। बिना श्रद्धा के कभी कुछ भी मत देना। प्रसन्नता से देना। निम्रता से देना। डरते हुये की तरह देना, ऐंठ कर मत देना, प्रेम से देना।

यदि जीवन में कभी किसी कार्य के बारे में तुम्हें सन्देह हो, अथवा अपनी जीविका या व्यवहार में कभी कुछ सन्देह उठे तो ऐसी स्थिति में तुम्हारे समीप जो श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी, सब को समान रूप से प्रेम करने वाला, अपने कर्मों में निरत रहने वाला, सदा सावधान एवं धर्म में मति रखने वाला हो उसकी शरण गहना। जिस प्रकार का कार्य वह करता हो या जिस तरह की जीविका का व्यवहार उसका हो उसी तरह तुम्हें भी करना चहिये। विमुग्ध नहीं होना चाहिए—यही (मेरा) अन्तिम उपदेश है।